।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ।।

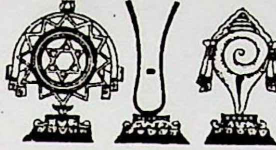


।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः।।

अर्थ-पञ्चक-निर्णय

सुबोधिनी टीका

* श्रीसर्वेश्वरो जयति *



।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

अर्थ-पञ्चक निर्णय

--अर्थात्--

श्रीसुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्काचार्य विरचित-

वेदान्त कामधेनु की-

सुबोधिनी टीका

लेखक :

आचार्य्य चक्रचूडामणि जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य

श्री १००८ श्रीजी श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यपादपद्माश्रित-

पं. लाड़िलीशरण ब्रह्मचारी, काव्यतीर्थ

प्रकाशक--

विद्वत्परिषद्

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ

सलेमाबाद, पुष्करक्षेत्र, किशनगढ जि. अजमेर (राज०)

गुरु पूर्णिमा महोत्सव

वि० सं० २०७३, दिनाङ्क १९/७/२०१६ ई०

पुस्तक प्राप्ति स्थान--

अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ

निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)

फोन नं० - ०१४६७ -२२७८३१

प्रथमावृत्ति - १००० वि० सं० १९९४

द्वितीयावृत्ति - १००० वि० सं० २०७३

मुद्रक--

श्रीनिम्बार्क मुद्रणालय

निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)

न्यौछावर

८०) रुपये

।। श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ।।

।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

समर्पण

निखिल महीमण्डलाचार्य चक्रचूडामणि श्रीसुदर्शनावतार श्री श्रीनिम्बार्काचार्य प्रमुखपाद पीठाधीश्वर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्री श्रीजी महाराज के दिव्य करकञ्ज सम्पुट में आप ही के द्वारा उपदिष्ट ''वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी'' के युक्तिपूर्ण भावों का संग्रहस्वरूप इस (अर्थ-पञ्चक निर्णय) को ''त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'' के अनुसार अति सम्मानपूर्वक समर्पण करता हूँ।

आप अपनी असीम निर्हेतुक कृपा के परवश होकर तुच्छ, अकिञ्चन इस दास की भेंट को स्वीकार कर अपने पादपद्मों की दृढा तथा अहैतुकी भक्ति का पात्र बनाइये।

समर्पयिता-
त्वदीयचरणैक शरण-
लाड़िलीशरण ब्रह्मचारी

लेखक के दो शब्द

समस्त अनादि वैदिक सत्सम्प्रदायानुयायी वैष्णवों को विदित हो कि मैं न तो टीकाकार हूँ, न लेखक हू और न पण्डित हू। इस अर्थ पञ्चक निर्णय के लिखने का सौभाग्य केवल एकमात्र श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्री.......जी महाराज को ही है, क्योंकि मुझे जो कुछ भी ज्ञान मिला है, वह एकमात्र आपके पादपद्मों की निर्हेतुकी कृपा का फल है।

न मालूम कितने दिन में आपको इस "अर्थ-पञ्चक निर्णय" का दर्शन होता, यदि सम्प्रदाय-सिद्धान्तप्रेमी ख्यातनामा, महत्तम पदाभिधेय श्रीमनोहरशरणदेवजी महाराज मुझे प्रोत्साहित न करते।

साम्प्रदायिक विद्वान् पं० भीमाचार्यजी शास्त्री ने इसकी मूल कापी के संशोधनादि में जो मुझे सहयोगिता प्रदान की है, उसके लिये मैं शतशः धन्यवाद देता हूँ।

इसके प्रुफ संशोधनादि कार्य हमारे प्रिय बन्धुवर श्रीरामेश्वरशरण ब्रह्मचारीजी ने किया है।

आप एक नवयुवक सम्प्रदायनिष्ठ प्रोत्साही व्यक्ति हैं। आपको दैनन्दिनी भगवत्कैंकर्य्य तथा सम्प्रदायीय आचार्यप्रणीत ग्रन्थों के अवलोकनादि से समय नहीं मिलता है, फिर भी आपने अपने अमूल्य समय को नष्ट कर जो सहयोग प्रदान किया है, उसके लिये शतशः धन्यवाद है।

निवेदक :

लाड़िलीशरण ब्रह्मचारी, काव्यतीर्थ

भूमिका

इस संसार में देवदुर्लभ, भगवत्प्राप्ति उपयुक्त मनुष्य शरीर को प्राप्त कर ऐहिक तथा पारलौकिक प्राकृत अतएव नाशवान् भोगों की चाहना में अपने जीवन को व्यतीत करना, काँच के बदले चिन्तामणि को बेचने के समान है, क्योंकि विषयभोग तो प्रायः सब ही जगह, सम्पूर्ण योनियों में स्व-स्व कर्मानुकूल मिल सकते हैं, किन्तु भगवत्प्राप्ति अन्तरङ्ग साधनरूप कृपा तो केवल भगवदाज्ञास्वरूप, वेद तथा शास्त्रों में प्रतिपादित नित्य और नैमित्तिक कर्मानुष्ठान से पवित्रान्तःकरण वाले आचार्य पादपद्मैकनिष्ठ, आत्म, अनात्म वस्तु विवेचक कुशल मनुष्य को ही प्राप्त हो सकती है।

अतएव आस्तिक समाज ने भगवत्कृपा को ही मनुष्य का परम कर्तव्य एवं उद्देश्य माना है। क्योंकि एकमात्र भगवत्कृपा ही भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष का साधन है। "**यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः**" इत्यादि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं।

मनुष्य यदि सांसारिक फलप्रद देवताओं की उपासना से मोक्ष का भागी होना चाहे तो उसकी वह आशा दुराशा मात्र है, क्योंकि-मुक्ति के प्रदान करने वाले एकमात्र केवल विष्णुपद वाच्य श्रीकृष्ण ही हैं। यह हरिवंश पुराण के घण्टाकर्ण उपाख्यान तथा छांदोग्य उपनिषद् का "**यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः**" इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित होता है। उस भूमा के स्वरूप का प्रतिपादन श्रुतियों ने इस प्रकार किया है। "**यत्र नान्यत्पश्यति-नान्यच्छृणोतिनान्यद्विजानाति स भूमा" यो वै भूमा तदेव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।**" अर्थात् जो पूर्ण है (सर्वत्र व्यापक है) उसी में सुख है, अल्प में सुख नहीं। अतएव पूर्ण (विश्वात्म परब्रह्म श्रीकृष्ण) की प्राप्ति करनी चाहिये। क्योंकि उनकी प्राप्ति होने पर अन्य के देखने, सुनने तथा जानने की आवश्यकता नहीं रहती।

उन्हीं की प्राप्ति होने पर मनुष्य इस असार संसार से पार हो सकता

है। इसमें ''**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।**'' इत्यादि भगवत् वाक्य प्रमाण हैं।

इसी भगवत्प्राप्ति रूप मुक्ति के प्रवर्तक रमाकान्त जगज्जन्मादि-कारण वेदैकगम्य श्रीपुरुषोत्तम भगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न, चतुर्मुख ब्रह्मा के तपःपूत मानसपुत्र भगवान् श्रीसनकादिक हैं। यही निवृत्ति धर्म के प्रथम उपदेष्टा हैं। अतः लोकाचार्य कहे जाते हैं। यह महाभारत के मोक्ष धर्म में कथित सृष्टिक्रम को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

इन्हीं श्रीसनकादिकों के द्वारा चतुर्मुख (ब्रह्मा) के प्रति ''**गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो। कथमन्योन्य सन्त्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः**'' इस प्रश्न के करने पर भगवान् श्रीनारायण ने क्षीर नीर विभागवत् तत्त्वातत्त्व विवेचक हंस स्वरूप को धारण कर, उनके सन्देह को निवारण किया। यह श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में उद्धव के प्रति भगवान् ने सनकादिकों को स्वयं कहा है कि सनकादिक हमारे शिष्य हैं। यथा-''**एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः। सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा**'' अर्थात् हे शिष्य ! जो योग तुमने पूछा है, वही योग मेरे शिष्य सनकादिकों ने सृष्टि के प्रारम्भ में पूछा था। इससे निश्चय होता है कि सनकादिक श्रीकृष्ण के शिष्य हैं और उन्होंने देवर्षि पूज्यपाद श्रीनारदजी को सत्सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के लिये भगवत्तत्त्व तथा भागवद्धर्म का उपदेश दिया था। यह छांदोग्य उपनिषद् के सप्तमाध्याय में श्रीनारद-सनन्दन-संवाद से स्पष्ट है। तथा-**नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः। आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च। उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु। एवं परम्परा प्राप्तो मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।** इत्यादि विष्णुयामलीय वचनों से यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रीहंसनारायण के शिष्य श्रीसनकादिक, उनके शिष्य श्रीनारदजी तथा उनके शिष्य श्रीनिम्बार्काचार्य हैं।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य वासुदेव के परम प्रिय आयुध श्रीसुदर्शन के अवतार तथा भगवच्छक्ति सम्पन्न दिव्य सूरि हैं। इनके प्रकट होने का एकमात्र कारण ''**अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय**'' यह

भगवदीय आज्ञा ही थी, क्योंकि भगवत् स्थापित वेदमार्ग की रक्षा होना, उस समय अशक्य था, जबकि समस्त जगत् एकमात्र स्वर्गादि क्षुद्र फलप्रद यज्ञादि के अनुष्ठान में अपने जीवन को व्यतीत कर **''पिबाम सोमममृता अभूम''** **अक्षय्यं ह वै चातुर्मासस्य याजिनः''** इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्य स्वर्ग को ही एकमात्र अमृत का स्थान तथा अक्षय समझते थे।

ऐसे समय पर आपने भगवदाज्ञा को शिरोधार्य कर तैलङ्ग देश में, श्रीअरुण महर्षि के गृह में श्रीजयन्ती देवी से, श्रीनियमानन्द नाम से अवतीर्ण हो, अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तों को पुनः प्रवर्त कर, अज्ञानान्ध जीवों को **''तद्यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयते, एवमेवास्य पुण्यचितोलोकः क्षीयते, नास्त्यकृतः कृतेन, प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा, जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्, यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति''** इत्यादि वाक्यों से बता दिया कि, यज्ञादि का फल नश्वर तथा सातिशय होने से दुःखग्रस्त है, और भगवद्भावापत्तिरूप मुक्ति का सुख शाश्वत तथा निरतिशय है।

अतएव इस निरतिशय और अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिये भगवान् पुरुषोत्तम, रमाकान्त परब्रह्म श्रीकृष्ण की ही जिज्ञासा करनी चाहिये। आपने वेदाचार्य श्रीबादरायण के ब्रह्मसूत्र का वाक्यार्थ रूप (वेदान्तपारिजात सौरभ) की रचना कर इसी का प्रतिपादन किया है। किन्तु भविष्य में जीव अत्यन्त मन्द मति तथा उत्साहहीन होंगे। सुतरां सभी को सहज ही में जिससे वेदान्तार्थ का ज्ञान हो, ऐसा विचार कर, आपने ''वेदान्त कामधेनु'' नाम से दश ही श्लोकों में समस्त वेदान्त के सिद्धान्तों का समावेश कर, दार्शनिक जगत् में अपनी कीर्त्ति वैजयन्ती को फहरा दिया। आपने इसके अन्तिम श्लोक में यह प्रतिपादन किया है कि, सद्-व्यक्ति को पांच वस्तुएँ अवश्य जाननी चाहिये-उपासक का क्या स्वरूप है १, उपास्य का क्या स्वरूप है २, कृपा का क्या फल है ३, भक्ति रस किसे कहते हैं ४, भगवत्प्राप्ति के विरोधी कौन हैं ५।

जब तक इन वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक जीव

को भगवद्भावापत्तिरूप मुक्ति नहीं हो सकती।

इसमें आपने प्रथम तथा द्वितीय श्लोक से उपासक का जो वास्तविक स्वरूप वर्णन किया है, वह अत्यन्त ही उपादेय है। तथा चतुर्थ और पञ्चम श्लोक में आपने उपास्य परब्रह्म श्रीकृष्ण का स्वरूप, सभी श्रुतियों को सामञ्जस्य करते हुए अत्यन्त ही उत्तम रूप से प्रतिपादन किया है। तथा तृतीय श्लोक में प्रकृति का निरूपण किया है। और कृपा का फल, भगवद्भावापत्तिरूप मुक्ति तथा भक्ति रस का निरूपण और साधन का क्रम आठवें तथा नवें श्लोक में आपने वर्णन किया है। अर्थात् प्रथम निष्काम कर्म करना, उससे अन्तःकरण की शुद्धि, उससे ऐहिकामुष्मिक फलभोग विराग, फिर ब्रह्म जिज्ञासा के लिये श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरूपसत्ति तथा उनकी आज्ञा की अनुवृत्ति करना, फिर ध्रुवा स्मृति रूप प्रेमलक्षणा भक्ति (अर्थात् तत्पदार्थ विषयक यथार्थ अनुभव विशेष) फिर मोक्ष होता है, यह बतलाया है।

दशवें श्लोक में भगवत्प्राप्ति के विरोधियों का दिग्दर्शन कराया है। छठे श्लोक में उपासना की आवश्यकता तथा सम्प्रदाय की अनादिता और वैदिकता का निरूपण किया है।

सातवें श्लोक में सर्व वेदान्तार्थ का अविरोध दिखाते हुये जिस खूबी से स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह अनिर्वचनीय है। क्योंकि केवल अभेद मानने वालों के मत में ''**नित्यो-नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ द्वासुपर्णा सयुजा सखायः, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**'' इत्यादि भेद बोधिका श्रुतियों का तथा ''**भेद व्यपदेशाच्चान्यः**'' ''**भेदव्यपदेशात् अधिकन्तु भेदनिर्देशात्**'' इत्यादि सूत्रों का एवं ''**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षर-श्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**'' इत्यादि स्मृतियों का बाध हो जाता है, और ऐसा होने से अर्ध-नास्तिकता दोष अवश्यम्भावी है। केवल भेद मानने वालों के मत में भी अभेद बोधक श्रुति, सूत्र तथा स्मृतियों का बाध होता है। किन्तु द्वैताद्वैत सिद्धान्त में किसी भी श्रुति का बाध नहीं है,

क्योंकि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, पुरुष, क्षर, अक्षरादि शब्द प्रतिपाद्य चित् और अचित् ब्रह्मात्म होने से, ब्रह्म के व्याप्य होने से तथा ब्रह्माधीन होने से ब्रह्म से अभिन्न हैं। तथा ब्रह्म सबका आत्मा है, सर्वत्र व्यापक है, स्वतन्त्र सत्ता वाला है। अतः स्वरूपतः यह ब्रह्म चित् और अचित् से भिन्न भी है। सुतरां जगत् ब्रह्म से स्वाभाविक भिन्नाभिन्न है।

यही श्रीनिम्बार्काचार्य्य के स्वाभाविक भेदाभेद का स्वरूप है। इस अविरोध मत को प्रतिपादन करने से ही आप दार्शनिक जगत् में सर्वोच्च पद को अलंकृत कर रहे हैं।

उसी दशश्लोकी की टीका यद्यपि आचार्यचरणों ने वेदान्त रत्न मञ्जूषा, लघु मञ्जूषा, सिद्धान्त रत्नाञ्जलि इत्यादि नामों से की है, परन्तु वे सब संस्कृतमय होने के कारण सर्व साधारण की बुद्धि से बाहिर हैं।

इसी कठिनता का विचार करते हुए श्रीमान् पं० लाड़िलीशरणजी ने वेदान्त कामधेनु की हिन्दी टीका की है, जो कि आपके सन्मुख ''अर्थ पञ्चक निर्णय'' के नाम से उपस्थित है। लेखक महोदय ने निम्बार्काचार्य सिद्धान्त प्रतिपादित जिन विषयों को अपनी सुबोधिनी टीका में लिखने की चेष्टा की है, उन विषयों को अन्य श्रुति, स्मृति, पुराणों के प्रमाणों द्वारा विभूषित कर दिया है, जिसमें लेखक महोदय की बुद्धि-तीक्ष्णता एवं शास्त्रान्वेषण का विशेष परिचय मिलता है।

लेखक महोदय श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्री श्रीजी महाराज के शिष्य होने के कारण, निम्बार्क सिद्धान्त की सूक्ष्मताओं को समझने एवं लिखने में विशेष कृतकार्य हुए हैं। आपने दश-श्लोकी की हिन्दी टीका कर सर्वसाधारण के लिये स्व-सिद्धान्त समझने में विशेष सुगमता प्रदान की है, जिसके कि लिये हम लोग उनके आभारी हैं।

अन्त में भगवान् श्रीसर्वेश्वरजी से मेरी यही प्रार्थना है कि हमारे सम्प्रदायीय अन्य विद्वान् भी आपकी तरह अन्यान्य ग्रन्थों की हिन्दी टीका कर प्रकाशित कराने में अग्रसर हों, जिससे सर्वसाधारण को अपने आचार्य के सिद्धान्तज्ञान में विशेष सुगमता हो।

निवदेक : **रामेश्वरशरण ब्रह्मचारी**

''अर्थपञ्चकनिर्णय'' की द्वितीयावृत्ति पर किञ्चिन्निवेदन

वेदान्तरत्नों का सारभूत ग्रन्थ ''वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी'' वैष्णव जगत् में बहुज्ञात, बहुश्रुत एवं सुप्रतिष्ठित है। भगवान् निम्बार्क महामुनीन्द्र ने दश श्लोकों में सम्पूर्ण वेदान्त का सार निबद्ध कर दिया है। बहुगूढ ग्रन्थ के मर्म को प्रकाशित करने के लिए संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में बहुत से विस्तृत और गम्भीर विवचेन पूर्ण टीका ग्रन्थ लिखे गए हैं। जिनमें श्रीपुरुषोत्तमाचार्य प्रणीत ''वेदान्तरत्नमञ्जूषा'', रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्य रचित ''सिद्धान्तरत्नाञ्जलि'', विद्वद्वर श्रीगिरिधरप्रपन्न विरचित ''लघुमञ्जूषा'' एवं अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज द्वारा रचित ''नवनीतसुधा'' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ''वेदान्तरत्नमञ्जूषा'' पर महान् विद्वान् श्रीअमोलकरामजी शास्त्री की ''कुञ्जिका'' टीका भी सम्पूर्ण रहस्य को प्रकाशित करने वाली है। पं. श्रीलाड़िलीशरणजी ब्रह्मचारी, काव्यतीर्थ द्वारा ''अर्थपञ्चकनिर्णय'' परक ''सुबोधिनी टीका'' हिन्दी भाषा में रचित उत्कृष्ट टीका है। श्रीब्रह्मचारीजी ने ''वेदान्तरत्नमञ्जूषा'' एवं उसकी कुञ्जिका टीका को आधार बनाकर गुरु-शिष्य के संवाद रूप में इस टीका का प्रणयन किया है। जिन जिज्ञासुओं की संस्कृत भाषा में गति नहीं है किन्तु उन टीकाओं के गूढरहस्य को जानना चाहते हैं उन्हें इस टीका का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। उन दोनों टीकाओं एवं यत्र-तत्र ''सिद्धान्त-रत्नाञ्जलि'' का निचोड़ इस टीका में है।

मानव मननशील है। वह इस जगत् के रहस्य को सम्पूर्ण रूप से जान लेना चाहता है तथा अपने लिए परम आनन्द को प्राप्त कर लेना चाहता है। उपनिषदों में ऋषि प्रज्ञा का उच्चतम रूप प्रकट हुआ है साथ ही परमतत्त्व की अनुभूति की पराकाष्ठा रूप में घोषणा है-''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।।'' अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है। सभी आनन्द चाहते हैं। किन्तु आनन्द-आनन्द कहने से कुछ प्राप्त नहीं होता, जब तक

इसका सगुण स्वरूप स्पष्ट नहीं किया जाता। तब गोपालतापिनी एवं कृष्णोपनिषद् में कहा गया कि सर्वगुणनिधान आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ही आनन्दरूप ब्रह्म है-''कृष्णो वै परमं दैवतम्'' ''तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्'' ''कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्'' इत्यादि। अतः जीव का परम प्राप्तव्य भगवान् कृष्णचन्द्र हैं। वही उपास्य हैं। भगवान् निम्बार्क ने इसी उपास्य के स्वरूप का वर्णन चतुर्थ एवं पञ्चम श्लोक में किया है। निम्बार्क परम्परा में उपास्य राधा और कृष्ण का युगल स्वरूप है। एक ही दिव्य ज्योति राधा और कृष्ण रूप में प्रकाशमान है। उपासक का क्या स्वरूप है? इसका निर्णय प्रथम एवं द्वितीय श्लोक में है। उपासक ज्ञानस्वरूप, ज्ञान का आश्रय, अणु, प्रतिदेहभिन्न, अनन्त और ईश्वराधीन है। जीव अनादि माया से संयुक्त है, भगवान् की कृपा से ही मुमुक्षु इसे जानते हैं। यह जीव मुक्त, बद्ध और बद्धमुक्त भेदों से अनेक प्रकार का है। प्रत्येक जीव को आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण की भक्ति करनी चाहिए उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए।

सद्व्यक्ति को जानने योग्य पञ्च वस्तुओं में से उपास्य और उपासक के निर्णय के अनन्तर ''कृपा का क्या फल है?'' यह अर्थ विचारणीय है। कृपा फल का निर्णय अष्टम श्लोक में है। कर्म, ज्ञान, भक्ति, भगवच्छरणागति, गुर्वाज्ञानुवृत्तिरूप साधनों के अनुष्ठान से भगवत्कृपा प्राप्त होती है। चतुर्थ अर्थ है-भक्ति रस किसे कहते हैं क्योंकि भक्ति से ही भगवान् के स्वरूप का ज्ञान और कृपा प्राप्त होती है। अतः भक्ति का स्वरूप नवें श्लोक में ''प्रेम विशेषलक्षणा उत्तमा भक्ति के रूप में प्रतिपादित किया है।''

यह भक्ति साधनरूपा और फलरूपा भेद से प्रथमतः दो प्रकार की है। अनेक जन्मों के अर्जित पुण्यों से शुद्ध अन्तःकरण में सत्संग द्वारा प्रकट होने वाली भक्ति साधन भक्ति कही जाती है। भगवद् गुण कीर्तन, भगवत्स्मरण आदि भेद से यह नो प्रकार की होती है। साधन भक्ति का अनुष्ठान भगवदाज्ञा का पालन मात्र है। साधन भक्ति से प्रसन्न हुए भगवान् की कृपा से भक्त को जब आत्मज्ञान हो जाता है तब उसके हृदय में प्रेमलक्षणा पराभक्ति प्रकट होती है। भगवत् साक्षात्कारानुभवरूप ज्ञान के लिए पराभक्ति की आवश्यकता है। पराभक्ति के बिना भगवान् के स्वरूप एवं गुणादि का साक्षात्कार नहीं

हो सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है--

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

जीव का परम लक्ष्य भगवत् साक्षात्कार ही है। भक्तों के लिए जानने योग्य पञ्चम अर्थ है-भगवत्प्राप्ति के विरोधी कौन हैं? इस अर्थ का निर्णय दसवें श्लोक में दिया गया है। इस श्लोक की टीका में लाड़िलीशरणजी ने बहुत विस्तार से प्रतिपादन किया है। इस विषय में उपास्य के स्वरूप, उपासक के स्वरूप के विरोधियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उपासकों को स्व-स्वरूप विरोधियों से सदा प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए। तदनन्तर साधकों तथा फल प्राप्ति के विरोधियों का वर्णन किया गया है। अन्त में सामान्य विरोधियों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इसका सार यह कि भक्त को काम-क्रोध आदि को प्रयत्न पूर्वक त्याग करके मोक्ष का अधिकारी बनना चाहिए। मुमुक्षुओं को सामान्य और विशेष रूप से बताए गए विरोधियों को छोड़ना चाहिए। प्रतिकूलता के त्याग से ही शरणागति प्राप्त होती है एवं भगवत्कृपा से परम कल्याण प्राप्त होता है।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज की कृपापूर्ण आज्ञा से इस ग्रन्थ के अन्तिम फ्रूफ का संशोधन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसका फल यह हुआ कि ग्रन्थ का प्रत्येक अक्षर ध्यान से पढा गया तथा ग्रन्थ का रहस्य एवं महत्त्व ज्ञात हुआ। पं. श्रीलाड़िलीशरणजी ब्रह्मचारी की संवाद शैली अत्यन्त रोचक, प्रभावपूर्ण एवं गम्भीर से गम्भीर विषय को भी सरलतम रीति से प्रस्तुत करती है।

ग्रन्थ के सार को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं--

सुबोधिनी सदा सेव्या दशश्लोकीप्रकाशिका।
लाड़िलीशरणाख्यस्य सा पञ्चार्थबुभुत्सुभिः।।१।।
ते पञ्चार्था इमे ध्येयाः तत्त्वजिज्ञासुभि बुंधैः।
निम्बार्कमुनिना प्रोक्ता दशश्लोक्यां महात्मना।।२।।
उपास्यो भगवान् कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
स एव परमो देवो भक्तानां सुखदायकः।।३।।
ज्ञानरूपो हरेर्निघ्नो जीवोऽयं समुपासकः।

प्रतिदेहाश्रयोऽनन्तः तनुयोगवियोगकृत्।।४।।
सद्ज्ञानकर्मयोगेन भजनेन च जायते।
भगवतः कृपा साधो! भक्तिश्च तत्फलं स्मृतम्।।५।।
साधनफलभेदाभ्यां भक्तिर्द्विधा विभज्यते।
प्रथमा नवधा प्रोक्ता पराभक्तिः फलात्मिका।।६।।
तयाहि ज्ञायते विष्णोः रूपमाह्लादकारकम्।
गुणादीनाञ्च सद्ज्ञानं तेन तु सुमहत्फलम्।।७।।
विरोधिनोऽपि ज्ञातव्याः स्वरूपस्य फलस्य च।
कामक्रोधादयस्त्याज्यास्तत्फलं शरणागतिः।।८।।
तया च प्राप्यते ज्ञानं धामप्राप्तिरनुत्तमा।
युगलांघ्रिसुसेवा वा दास्यं सख्यं तथा प्रभोः।।९।।
ज्ञातृ-ज्ञेय-कृपा-भक्ति-विरोधिनः सुपञ्चकाः।
ज्ञायन्ते यत्र सद्भिः सा दश-श्लोकी प्रकीर्तिता।।१०।।
(श्री) राधासर्वेश्वराद्यस्य शरणान्तस्य मद्गुरोः।
देवाचार्यस्य कारुण्यात् लिखिता सारबोधिनी।।११।।

श्री ''श्रीजी'' महाराज का चरणसेवक--
निम्बार्कभूषण डॉ. दूलीचन्द शर्मा
मुरलीपुरा ग्राम वास्तव्य
प्राचार्य--
श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय
निम्बार्कतीर्थ, सलेमाबाद
किशनगढ, जिला-अजमेर (राज.)
मो. नं. ९५२९९७७७३०

अर्थ पञ्चक निर्णय

अर्थात्

दश-श्लोकी की सुबोधिनी टीका

''भवतापप्रहर्तारं वाञ्छितार्थप्रवर्षिणम् ।
आश्रयञ्च सतां लोके, (श्री) निम्बार्क प्रभुमाश्रये ।।''

''भोक्ता, भोग्यं, प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्''

इस श्रुति के द्वारा बतलाये हुए तत्त्वत्रय को प्रतिपादन करते हुए, उद्देश के क्रम से प्रथम 'भोक्ता' तत्त्व का निरूपण करता हूँ।

इसी 'भोक्ता' तत्त्व को अनेक प्रकार के मतवादियों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है, किन्तु यह सभी 'असर्वज्ञ' होने के कारण उनके मत सच्छास्त्र विरुद्ध होने से अधिकांश में 'दूषित' हैं। परन्तु ''निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थदायकः'' इत्यादि 'व्यास' वचनानुसार 'द्वैताद्वैत' मत के निर्वाहक, आद्याचार्य श्रीसुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्काचार्यजी ही सर्वज्ञ हैं। अतः मुमुक्षुओं को उन्हीं का मत सादर ''उपादेय'' है। अतः उन्हीं की रचित ''दशश्लोकी'' की उन्हीं के पाद पीठाधीश्वर (गद्यस्थ) शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा उपदिष्ट प्रथा के अनुसार सरल हिन्दी में ''सुबोधिनी'' नाम्नी व्याख्या शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तर-रूप में लिखता हूँ।

एक दिन श्रीसर्वेश्वरजी की आराधना समाप्त कर एकान्त में विराजमान समस्त वेद-वेदाङ्ग निष्णात, शमदमादि साधन सम्पन्न, समस्त सन्देहों के निवर्तक, भगवत्तत्व के साक्षात् द्रष्टा, परोपकार में उत्सर्गीकृत जीवन, दयार्द्रचित्त, प्रसन्नवदन, शिष्यों को बोध कराने में प्रवीण, सर्व प्राणियों के हित में कटिबद्ध, उत्तम वर्णसञ्जात श्रीगुरुदेव की शरण में जाकर नित्य अनित्य पदार्थ का विवेकी, भवपाश से मुमुक्षु शमादि सम्पन्न श्रीसर्वेश्वर के पाद-पद्म में भक्तिमान्, विरागयुक्त जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि

हे गुरुदेव ! 'भोक्ता' तत्त्व का वास्तविक स्वरूप उपनिषद् सम्मत किस तरह का है ?

उत्तर-हे वत्स ! उसी भोक्ता तत्त्व को 'बौद्ध' देह स्वरूप मानते हैं।

''जैन'' देह के बराबर और सावयव मानते हैं।

''लोकायतिक (बौद्ध का ही प्रभेद) पृथ्वी, जल वायु और तेज के एकत्रित होने पर जीव बन जाता है, ऐसा मानते हैं, और उसमें पान का दृष्टान्त देकर साधारण जनों को बता देते हैं। अर्थात् जैसे पान, चूना, कत्था और सुपारी के एकत्रित होने पर मुख में लालिमा बन जाती है, वैसे ही पूर्वोक्त चार वस्तुओं के मिलने पर जीव बन जाता है।''

''वैभाषिक'' (बौद्ध का ही प्रभेद) जीव को क्षणिक और बाह्य अर्थ स्वरूप मानते हैं।

''योगाचार'' (बौद्ध का ही प्रभेद) जीव को क्षणिक और विज्ञान स्वरूप मानते हैं।

''माध्यमिक'' (बौद्ध का ही प्रभेद) जीव को शून्य स्वरूप मानते हैं।

एवं अन्य कोई जीव को इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण स्वरूप भी मानते हैं।

''नैयायिक'' जीव को देहेन्द्रियादि भिन्न, ज्ञानेच्छा प्रयत्नादि गुणों का आश्रय, विभु, प्रति शरीर में विभिन्न तथा आगन्तुक चैतन्य रूप वाला मानते हैं।

इस प्रकार से भिन्न-भिन्न मतों में भिन्न-भिन्न रूप से जीव का स्वरूप बताया गया है, किन्तु उन सब मतों में बताया हुआ 'जीव का स्वरूप' सच्छास्त्र तथा सद्युक्तियों से बाधित होने के कारण प्रामाण्य शून्य है।

और उपनिषद् सम्मत तथा सर्वांश में प्रामाण्ययुक्त 'भोक्ता' 'जीव' का स्वरूप निर्णय श्रीआद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने इस प्रकार किया है-

ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं, ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ।।१।।

अन्वयार्थ-इस श्लोक में कर्त्ता पद नहीं है, अतः इसका कर्त्ता वेदान्त वाक्य और महर्षिगण हैं और ''जीवं'' यह एक वचन जीवत्व जाति के अभिप्राय से दिया गया है, ऐसा न मानने से ''प्रतिदेहभिन्नं'' ''अनन्तं'' यह दो पद व्यर्थ हो जाते हैं। ज्ञानस्वरूपं-स्वयं प्रकाश स्वरूप। ज्ञातृत्ववन्तं-धर्मभूत ज्ञान का आश्रय। हरेरधीनं-सर्व अवस्थाओं में सर्वदा भगवदधीन। हि-निश्चय करके। अणुं-अणु परिमाण वाला। प्रतिदेहभिन्नं-ब्रह्मा से लेकर पिपीलिकापर्यन्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकार के प्रत्येक शरीर में अलग-अलग। शरीरसंयोग-वियोग योग्यं-पूर्वोक्त चतुर्विध शरीरों के संयोग और वियोग के योग्य। यत्-इसलिए। अनन्तम्-असंख्य। जीवं-जीवों को। आहुः-वेदान्त वाक्य और महर्षिगण कहते हैं।

सुबोधिनी-हे वत्स ! इस श्लोक में ''ज्ञानस्वरूपं'' यह पद पूर्वोक्त सभी मतों को हटाने वाला है और जीव के वास्तविक स्वरूप को बताने वाला है। अर्थात् 'जीव' बौद्ध मत के अनुसार देह स्वरूप नहीं है, क्योंकि देह स्वयं प्रकाश स्वरूप नहीं है।

अथ च जीव को देहज स्वरूप मानने में और भी बहुत से दोष हैं, जैसे जीव को देह स्वरूप मानने से बाल्यावस्था में अनुभव की हुई वस्तु का वृद्धावस्था में स्मरण नहीं होना चाहिये, क्योंकि शरीर के अवयवों का उपचय (बढ़ना) और अपचय (घटना) होने से वृद्धावस्था में बाल्यावस्था के शरीर का नाश हो गया। दूसरे की अनुभव की हुई वस्तु का दूसरे को स्मरण नहीं होता है, क्योंकि अनुभव और स्मरण का सामानाधिकरण्य है।

दूसरा-प्रत्येक कार्य की प्रवृत्ति में ''इष्ट साधनता ज्ञान'' कारण है और जन्म के समय इष्टसाधनता ज्ञान के न होने से बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति भी न होनी चाहिये। यह तभी हो सकेगा, जब कि जीव को देह से अतिरिक्त मानोगे।

''स्वमत'' में–''जीवयोनि'' अदृष्ट के विना अन्य किसी उद्बोधक के न होने से स्तन्यपान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में बालक की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतएव सिद्ध है कि ''जीव'' देह से अतिरिक्त है।

जैन मतानुसार भी जीव का स्वरूप नहीं है, क्योंकि स्वकर्मवश मनुष्य शरीर को छोड़ कर हस्ती का शरीर मिलने पर मनुष्य शरीर परिमित जीव उसमें कैसे व्याप्त होगा और वही फिर कर्मवश पिपीलिका के शरीर में कैसे व्याप्त होगा ? यदि शरीर के अनुसार जीव का भी घटना–बढना मान लो तो जीव की नित्यता नष्ट हो जायगी। अतएव ''जीव'' का स्वरूप सावयव और शरीर के परिमित नहीं है।

एवं ''लोकायतिक'' मतानुसार भी जीव का स्वरूप नहीं है, क्योंकि अल्पभूत समूहसे उत्पन्न पिपीलिका तो चलती–फिरती सुतरां चेतन और अधिक भूत समूह से उत्पन्न पर्वत 'अचेतन' यह विषमता ही भूत चतुष्टय के संयोग से जीव उत्पन्न होता है, ऐसा मानने वाले ''लोकायतिक'' मत को निरस्त कर देती है।

''योगाचार'' के मत के समान जीव क्षणिक विज्ञानस्वरूप भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो सविषयक ही होता है। अतः उस विज्ञान का विषय भी मानना पड़ा। अब यदि उस विज्ञान का विषय ''जगत्'' मात्र को मानोगे, तो सब को सर्वज्ञ हो जाना चाहिये। यदि उस विज्ञान का विषय ''यत्किञ्चित्'' मानो, तो निर्णय करना कठिन हो जायगा कि विज्ञान का अमुक विषय है और अमुक नहीं।

एवं सुषुप्ति में भी विषय का ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान तो 'सविषयक' ही होता है।

निर्युक्तिक एवं प्रमाणशून्य होने से सुषुप्तिकाल में निराकार विज्ञान सन्तति रहती है, यह नहीं मान सकते, अन्यथा ''घटपटादि'' भी विज्ञान स्वरूप होने चाहिये।

यहाँ पर योगाचार ''इष्टापत्ति'' नहीं कर सकता, क्योंकि अनुभव के विषय 'घटपटादि' का अपलाप (मिथ्या) करना अशक्य है। घट–पटादि को विज्ञान का आकार मानने से तो विज्ञानातिरिक्त वस्तु भी सिद्ध

हो गई। यदि उसको विज्ञान से अतिरिक्त न मानो, तो समूहालम्बन ज्ञान में नीलाकार विज्ञान को भी पीताकार विज्ञान मान लेना चाहिये, क्योंकि सभी तो विज्ञानस्वरूप हैं।

अपोह रूप (दोनों को अलग करने वाला धर्म) नीलत्व पीतत्वादि विज्ञान के धर्म भिन्न-भिन्न मान कर पूर्वोक्त दोष का वारण नहीं कर सकते, क्योंकि परस्पर विरुद्ध नीलत्व पीतत्वादि धर्म एक विज्ञान में नहीं रह सकते, अन्यथा विरोध का निर्णय करना ही कठिन हो जायगा। अतः ''जीव'' क्षणिक विज्ञानस्वरूप नहीं है।

एवं शून्य जड़ पदार्थ है और ''आत्मा'' चेतनस्वरूप है। अतः ''माध्यमिक'' मतानुसार भी जीव नहीं है।

पूर्व में नेत्र के द्वारा अनुभव की हुई वस्तु की, नेत्र के नष्ट होने पर भी स्मृति होने से जीव इन्द्रियस्वरूप नहीं हो सकता। प्राण के रहने पर भी सुषुप्ति में चैतनता न रहने से धारण किए हुए भूषणादिकों का चोर के द्वारा अपहरण होने पर भी अनुभव न होने से ''प्राणस्वरूप'' भी जीव नहीं है।*

एवं ''नैयायिक'' मतानुसार जीव को विभु मानने से चैत्र के पैर में काँटा लगने पर उसके दुःख का अनुभव मैत्रं को होना चाहिये, क्योंकि वे लोक, आत्मा को विभु (व्यापक) मानते हैं।

यदि कहो कि जिसके पैर में काँटा लगा है, उसी को दुःख होगा, दूसरे को नहीं, क्योंकि अवच्छेदक (शरीर) भिन्न-भिन्न है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यापक होने के कारण आत्मा सर्व मूर्त्त पदार्थों के साथ संयोग होने से एक को ही दुःख होगा, दूसरे को नहीं, यह विषमता कैसे हो

---

* उपनिषद् सिद्धान्त में इसका समाधान यह है कि बद्धावस्था में जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित रहता है, सुतरां प्रत्येक विषय में जीव को साधनों की अपेक्षा रहती है और सुषुप्तिकाल में इन्द्रियों के सहित मन ''पुरितति'' नाड़ी में प्रवेश कर जाता है। अतः सुषुप्ति काल में जीव को वाह्य अनुभव नहीं हो सकता।

सकती है ?

यदि कहो कि जिसके अदृष्ट (पूर्वजन्मार्जित धर्माधर्म) से जो शरीर बना है, वह शरीर उसका है और उसी को दुःख-सुख का अनुभव होता है, सबको नहीं, तो यह भी ठीक नहीं है। जबकि अदृष्ट पैदा करने के लिए मन के साथ एक आत्मा का संयोग होगा, तो अन्य आत्माओं के साथ भी संयोग होगा, क्योंकि आत्मा विभु है। फिर कैसे निर्णय होगा कि अमुक के अदृष्ट से शरीर बना है, अमुक के अदृष्ट से नहीं।

यदि कहो कि सुख-दुःख का साधन मनसंयोग, सब आत्माओं के साथ होने पर भी ''मैं यह करूँगा'' ऐसा अभिमान जिसको होगा, उसी को उस शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव होगा सबको नहीं, तो यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ''नैयायिक'' के मत से आत्ममनसंयोग के बिना अभिसन्धि प्रभृति कोई कार्य होता ही नहीं है, तब किसको अभिसन्धि होगी, किसको नहीं, यह निर्णय करना कठिन है। अतः नैयायिक मतानुसार भी जीव नहीं है।

''भोक्ता तत्व'' वास्तव में उपनिषद् सिद्धान्त से ''स्वयं ज्योतिः स्वरूप है।''

प्रश्न – स्वयं ज्योतिः स्वरूप किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसका प्रकाश करण (चक्षुरादि इन्द्रियों) के व्यापाराधीन न हो, उसको स्वयं ज्योतिः स्वरूप कहते हैं। 'जीव' का प्रकाश किसी भी करण के व्यापार के अधीन नहीं है, किन्तु करणों (चक्षुरादि इन्द्रियों) का भी प्रकाशक है।

इसमें ''**यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव, एवं वारेऽयमात्मा अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव, अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति**'' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

ज्ञानस्वरूप मानने वाले मायावादियों की व्यावृत्ति के लिये पूर्वोक्त मूल श्लोक में ''ज्ञातृत्ववन्तम्'' पद का प्रयोग श्रीआद्याचार्यजी ने किया है।

प्रश्न-मायावादियों का क्या सिद्धान्त है? 'ज्ञातृत्ववन्तम्' पद से

कैसे व्यावृत्ति होती है?

उत्तर – मायावादियों का सिद्धान्त है कि जैसे नाली के रास्ते जल खेत में जाकर खेत के सदृश हो जाता है और उसमें पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब खेत को प्रकाशित करता है, वैसे ही अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियरूप नाली के रास्ते से बाहर निकल कर विषय (घटपटादि) देश में जाकर तत्सदृश हो जाती है और उसमें पड़ा हुआ आत्मा का प्रतिबिम्ब 'विषय' को प्रकाशित करता है और तब विषय (घटपटादि) का ज्ञान होता है। प्रतिबिम्ब बिम्ब से अलग नहीं है, किन्तु बिम्बस्वरूप ही है। अतः जीव ज्ञानस्वरूप है, किन्तु ज्ञानाश्रय नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब में तो ज्ञानत्व का उपचार मात्र है। जैसे जल में जल मिलने पर भेद ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही दोनों का ही ज्ञानत्व स्वरूप होने से परस्पर में आश्रयाश्रयी भाव नहीं हो सकता है। यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि जगत् में देखा जाता है कि रूपवान् पदार्थ का रूपवान् पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़ता है, किन्तु 'आत्मा' और 'अन्तःकरण' किंवा 'मायारूप उपाधि' यह सभी नीरूप और निरवयव हैं, सुतरां नीरूप और निरवयव 'आत्मा' का प्रतिबिम्ब नीरूप और निरवयव उपाधि में नहीं पड़ सकता है। अतः सूर्य के दृष्टान्त से धर्मभूत ज्ञान को आत्मा का प्रतिबिम्ब मान कर उसमें ज्ञानत्व की उपचार कल्पना करना अयुक्त है।

नीचे का दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है। धर्मि और धर्म का अत्यन्त साजात्य (तुल्यता) अभेद नहीं बतलाता, किन्तु भेद के ज्ञान को ही रोकता है, सुतरां धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान दोनों ज्ञान होने पर भी धर्मित्व और धर्मत्वरूप अवच्छेदक के भिन्न होने से दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दोनों ''जल'' भिन्न-भिन्न नहीं हैं। अतः जल का दृष्टान्त देकर परस्पर आश्रयाश्रयी भाव का खण्डन नहीं हो सकता, किन्तु आधाराधेय भाव में ही दृष्टान्त है, जैसे प्रकाशस्वरूप सूर्य प्रकाशस्वरूपा प्रभा का आश्रय है, सुतरां तेजस्वरूप से दोनों का साजात्य होने पर भी आधाराधेय भाव है, वैसे ज्ञानत्व रूप से दोनों का साम्य होने पर भी परस्पर आधाराधेय भाव हो सकता है।

ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय तो ईश्वर भी है, सुतरां जीव और ईश्वर दोनों एक ही हैं। इस अतिव्याप्तिरूप दोष को हटाने के लिए पूज्यपाद श्रीआचार्यचरण ने श्लोक में ''हरेरधीनम्'' पद का प्रयोग किया है। अर्थात् जीव की स्वरूपस्थिति और प्रवृत्ति प्रभृति सर्वदा श्रीपुरुषोत्तम रमाकान्त श्रीकृष्ण के आधीन हैं। सर्वदेश, सर्वकालीन वस्तुविषयक ज्ञानादि में तथा सम्पूर्ण क्रियाओं की प्रवृत्ति में जीव 'स्वतन्त्र' नहीं है, किन्तु ईश्वर इन सब में स्वतन्त्र है, सुतरां जीव और ईश्वर यह दोनों एक नहीं हैं।

''तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्, जगद्वशे वर्त्ततेऽदः कृष्णस्य सचराचरम्''

इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

प्रश्न - यदि सब ईश्वर के आधीन हैं, तो एक दुःखी और एक सुखी, एक राजा और एक दरिद्र यह वैषम्य क्यों ? यदि ईश्वर के द्वारा ही वैषम्य होता है, तो उसकी समदर्शिता नष्ट हो जाने से ईश्वरत्व ही नष्ट हो जाता है ?

उत्तर - जैसे नाना जातीय शस्यों की उत्पत्ति वृष्टि के आधीन होने पर भी उनकी विषमता बीज से ही होती है, वृष्टि से नहीं, वैसे ही नाना जातीय जीव ईश्वराधीन होने पर भी अपने-अपने कर्मों के वैषम्य से परस्पर विलक्षण और सुखी, दुःखी, राजा और दरिद्र होते हैं। अतः ईश्वर में वैषम्य नहीं है, सुतरां ईश्वरत्व नष्ट नहीं हो सकता।

''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन''

इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

प्रश्न - यदि जीव मात्र की प्रवृत्ति ईश्वराधीन है, तो शास्त्र एवं गुरूपदेश लेने की क्या आवश्यकता ? यदि आवश्यकता नहीं, तो ''तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'' इत्यादि श्रुतियाँ असङ्गत होगी, अतः जीव ईश्वराधीन नहीं है ?

उत्तर - वत्स ! तुम्हारा यह तर्क भी प्रबल नहीं है, जिसको यह ज्ञान नहीं हुआ कि ''ईश्वर के आधीन हूँ'' उसी को लक्ष्य कर श्रुतियों ने

गुरुशरण जाने की आज्ञा दी है। अतः श्रुति असङ्गत नहीं है और शास्त्र पढने और गुरूपदेश लेने की भी आवश्यकता है।

ज्ञानस्वरूप, ज्ञानाश्रय, ईश्वराधीन तो ईश्वर भी है, इन विशेषणों से तो अद्वैतवाद ही पुष्ट होता है, इस सन्देह को दूर करने के लिये श्रीआचार्यपाद ने ''अणुं हि'' पद का प्रयोग किया है, अर्थात् जीव 'स्वरूपतः' अणु परिमित है। ईश्वर तो ''अणोरणीयान् महतोमहीयान्'' के अनुसार छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है। अतः जीव और ईश्वर में स्वाभाविक भेद है।

प्रश्न - यदि जीव अणु है, तो सम्पूर्ण शरीर में होने वाले सुख-दुःख का ज्ञान उसे किस तरह होगा?

उत्तर - हे जिज्ञासु ! तुम्हारी शह शङ्का नितान्त निर्मूल है, देखो, जैसे चन्दन शरीर के एक देश में लगाने पर सम्पूर्ण शरीर शीतल होता है, सूर्य के एक जगह पर उदय होने पर समस्त जगत् प्रकाशित होता है, उपवन के एक जगह पर विकसित चम्पक, केतकी आदि पुष्पों से जैसे समस्त उपवन सुगन्धित होता है, वैसे ही अणुपरिमित जीव शरीर के 'एक देश' में रह कर सम्पूर्ण शरीर के सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है।

भाव यह है कि जीव स्वरूप से अणु होने पर भी उनका धर्मभूत ज्ञान व्यापक (विभु) है। अतः जीव धर्म भूतज्ञान के द्वारा समस्त शरीर के सुख-दुःखों का अनुभव कर सकता है।

प्रश्न - स्वरूप और धर्मभूत ज्ञान में विलक्षणता क्या है ?

उत्तर - स्वरूप सङ्कोच-विकासरहित सदा एक रस, स्वयंप्रकाश स्वरूप, और धर्मभूत ज्ञान बद्धावस्था में सङ्कुचित और मुक्तावस्था में आवरणरहित होने से विकासशील आश्रय आत्मा के लिये आत्मातिरिक्त वस्तुमात्र का प्रकाशक, यही दोनों में विलक्षणता है।

प्रश्न - यदि जीव का धर्मभूत ज्ञान व्यापक है, तो दूसरे के शरीर में होने वाले सुख-दुःखादि का भी अनुभव होना चाहिये ?

उत्तर - हे वत्स ! यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीमद्भगवद्-

गीता में स्वयं श्रीमुख से कहा गया है कि ''अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'' अज्ञान (शरीर) से धर्मभूत ज्ञान ढका हुआ है अतएव प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण गृह में व्याप्तशील दीपक की प्रभा घटादि के द्वारा आच्छादित होने पर सङ्कुचित होकर घट मात्र में ही प्रकाश करती है, अन्य जगह नहीं, वैसे ही व्यापक होने पर भी जीव का धर्म-भूत-ज्ञान कर्मात्मिका अविद्याद्वारा आवृत होने से सङ्कुचित हो जाता है और उसे इन्द्रियसंयोग की आवश्यकता पड़ती है और जिसके साथ इन्द्रिय का संयोग होता है, उसी का अनुभव होता है, दूसरे का नहीं। अतएव दूसरे के शरीर में होने वाले सुख-दुःख के साथ किसी तरह का सम्बन्ध न होने से उसका अनुभव सबको नहीं होता, किन्तु मुक्तावस्था में कर्मात्मिका अविद्या का आवरण छूट जाने से जीव को भगवदनुग्रह से सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान होता है। ''सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः'' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। श्रुति का अर्थ-पश्यः=द्रष्टा (मुक्त), सर्वं=सब को, पश्यति=देखता है, सर्वशः=सब प्रकार से, सर्वम्=सब में, आप्नोति=धर्म-भूतज्ञान से व्याप्त होता है।

प्रश्न - यदि जीव अणु है, तो निरवयव भी अवश्य होगा और निरवयव होने से उसमें ईश्वर की व्याप्ति नहीं हो सकती और ईश्वर की व्याप्ति न होने से उनकी सर्वव्यापकता कैसे सिद्ध होगी ?

उत्तर - तुम्हारा यह प्रश्न भी नितान्त निर्मूल है, क्योंकि जीव के अणु और निरवयव होने पर भी 'ईश्वर' अपनी असाधारण अघटन घटना पटीयसी व्यापनशील शक्ति से सब में व्याप्त हो सकता है, अन्यथा काल, दिगादि में भी उसकी व्याप्ति न होनी चाहिये, क्योंकि वह भी निरवयव हैं।

इस श्लोक में 'च' पद जीव के स्वाभाविक अहमर्थत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों का समुच्चय करने वाला है। अर्थात् पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट जीव 'अस्मदर्थस्वरूप' है तथा कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि का आश्रय है।

प्रश्न - यदि जीव अस्मदर्थस्वरूप है, तो 'सुषुप्ति' काल में भी अस्मदर्थ का अनुभव होना चाहिये। यह नहीं होता। अतः प्रकृति का

कार्य-स्वरूप अस्मदर्थ है, क्योंकि ''मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ'' इत्यादि प्रतीतियों में अस्मदर्थ से देहविशिष्ट आत्मा का ही ज्ञान होता है, शुद्ध जीव का ज्ञान नहीं होता ?

उत्तर – हे जिज्ञासु ! सुषुप्ति में भी ''इतनी देर तक मै सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ ज्ञान नहीं रहा, मैं इतनी देर तक मूर्छित रहा'' इत्यादि प्रतीतियों से जीव को सुख और अज्ञान विषयक ज्ञान का भान होने से सुषुप्ति काल में भी अस्मदर्थ का अनुगत्य है।

प्रश्न – ''एतावन्त कालं मामप्यहं नावेदिषम्'' इतनी देर तक मैंने अपने को भी नहीं जाना इत्यादि प्रतीतियों में अस्मदर्थ का ज्ञान न होने से जीव अस्मदर्थस्वरूप किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर – हे जिज्ञासु ! तुम्हारी इस प्रतीति में ''माम्'' पद कर्मकारक है, उसका विषय जाग्रदवस्था में अनुभव किया हुआ अनादि कर्मात्मिका अविद्यानिरूपित, आत्मस्वरूप से ज्ञात ''देह मात्र'' है और ''अहम्'' यह कर्त्ता कारक है और इसका विषय देहेन्द्रियादि विलक्षण, शुद्ध भगवदात्म, प्रत्यक् पदार्थ ज्ञानाश्रय ''जीव'' है। अतः जाग्रदवस्था में आत्मस्वरूप से ज्ञात ''देहादि'' का सुषुप्ति काल में ज्ञान न होना ठीक ही है और उस समय में भी जीव को देहविषयक ज्ञानाभावका अनुभव होने से जीव अस्मदर्थ स्वरूप है, यही सिद्ध होता है, क्योंकि अनुभव और स्मरण का सामानाधिकरण्य है। जिसने सुषुप्ति में सुख का अनुभव किया, उसी को स्मरण भी होता है, अन्यथा ''इतने समय तक मैं नहीं था, इस समय हुआ हूँ, सुषुप्ति काल में अनुभव करने वाला और था, मैं उससे पृथक् हूँ'' ऐसा भान होना चाहिये, यह भान नहीं होता। अतः सिद्ध हो गया कि जीव का अस्मदर्थ स्वरूप है।

इसीलिये वेद माता गायत्री में भी ''नः'' पद से अस्मदर्थ का ही प्रयोग किया गया है, एवं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, एक अद्वितीय परब्रह्म ने भी ''अहं ब्रह्मास्मि बहु स्याम्'' प्रजायेय नामरूपे व्याकरवाणि'' इत्यादि वाक्यों से अस्मदर्थ रूप से ही अपने को उच्चारण किया है। एवं तत्सदृश मुक्त वामदेवादिकों ने भी ''तद्वैपश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवम्

सूर्यश्च'' इत्यादि वाक्यों से अस्मदर्थ रूप से अपने को उद्घोषित किया है।

इसी प्रकार कर्तृत्व भी जीव का स्वाभाविक धर्म है, किन्तु बद्धावस्था में अनादि प्रकृतिसम्बन्धरूप कर्मात्मिका अविद्या के द्वारा ज्ञानादि के संकोच होने से मन तथा इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ती है। सुषुप्ति में इन्द्रियों के सहित मन का लय (पुरीतती नाड़ी में प्रवेश) हो जाने से विशेष कर्तृत्व का भान होने पर भी सामान्य कर्तृत्व (प्रस्वास रूप कर्तृत्व) रहता ही है।

प्रश्न – यदि ऐसा ही है, तो जाग्रदवस्था में कभी भी कर्तृत्व का उपराम न होना चाहिये?

उत्तर – हे वत्स ! मन तथा इन्द्रियों की तरह विशेष विषय और तत्सम्बन्धी क्रियाविशेष भी सहकारी कारण हैं। उनके अभाव से जाग्रदवस्था में सदा विशेष कर्तृत्व नहीं रह सकता है।

प्रश्न – इन सब कल्पनाओं के गौरव की अपेक्षा तो बुद्धि को कर्त्री मानना ही अच्छा है ?

उत्तर – हे वत्स ! बुद्धिरूप उपाधि जड़ है, अतः वह कर्त्री नहीं हो सकती। यदि कहो कि उपाधि के सम्बन्ध से जीव में कर्तृत्व शक्ति आ जाती है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसमें कर्तृत्व शक्ति का एक दम अभाव है, उसमें किसी के सम्बन्ध से भी कर्तृत्व शक्ति नहीं आ सकती। अन्यथा नपुंसक पुरुष में भी स्त्री के सम्बन्ध से पुत्रोत्पादन कर्तृत्व शक्ति हो जानी चाहिये। ऐसा तो कहीं नहीं हुआ है, अतः जीव में स्वाभाविक कर्तृत्वशक्ति रहती है, तो भी स्वाभाविक दाहशक्ति का आश्रयरूप अग्नि में काष्ठादि के सम्बन्ध से जैसे दाहिकाशक्ति का प्रकाश होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्तृत्वशक्ति का आश्रयस्वरूप जीव में भी 'करण' विषय एवं तत्तत्साधनों के सम्बन्ध से बद्धावस्था में कर्तृत्व का विकास होता है। किन्तु मुक्तावस्था में आवरण के छूट जाने से जीववृत्ति स्वाभाविक कर्तृत्वशक्ति का पूर्ण विकास होने के कारण साधनों के विना ''संकल्प'' मात्र से सब कुछ कर सकता है। **''संकल्पादेवास्य पितरः**

समुपतिष्ठन्ति'' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

इसी प्रकार भोक्तृत्व भी जीव का स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में सुखभोक्तृत्व और मुक्तावस्था में भी भगवान् के स्वरूप, गुणादि विषयक आनन्द का उपभोग श्रुतियों में सुना जाता है।

यहाँ तक नित्यमुक्त, मुक्त और बद्ध जीवों का साधारण लक्षण कह कर जीव के स्वरूप, गुण और परिमाण का निरूपण किया। अब बद्ध जीवों का विशेष लक्षण दिखलाते हैं। **''शरीर संयोगवियोगयोग्यम्''** यहाँ ''शरीर'' पद से शरीर का कारणस्वरूप अनादि कर्मात्मिका अविद्या का ग्रहण है, इसलिये-

(अनादि कर्मरूपाविद्यावच्छेदलक्षणवन्धार्हत्वे सति तन्निवृत्तिपूर्वकभगवद्भावापत्तिलक्षणमोक्षार्हत्वं बद्धजीवानां लक्षणम्)

अनादि कर्मात्मिका अविद्या का आवरणरूप बन्ध के योग्य होकर अविद्यानिवृत्तिपूर्वक भगवद्भापावत्तिरूप मोक्ष के योग्य बद्ध जीव है। अर्थात् जीव अनादि कर्मात्मिका अविद्या से आवृत्त हो देव, मनुष्य, पशु प्रभृति के शरीरप्राप्तिरूप संसार-चक्र में पड़ नाना विधि सुख-दुःखों को भोगता हुआ, यदृच्छया श्रीसर्वेश्वर कृष्णचन्द्र की निर्हेतुक कृपादृष्टि से अवलोकित होने पर, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ श्रीगुरुदेव की शरण में जा, श्रीआचार्य मुखपद्म से विनिर्गत सच्छास्त्ररूप मधु को पान कर, आत्म-परमात्मविषयक समस्त संशयरूप रोगों से छूट, आचार्योपदिष्ट पद्धति के अनुसार भगवान् का निदिध्यासन कर, उसकी परिपाक अवस्था होने पर श्रीभगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के साक्षात्कार होने पर समस्त बन्धनों से छूट, भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष का भागी होता है।

''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्, क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।''

इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है।

श्रुत्यर्थ-एष=यह परमात्मा। यम्=जिसको। वृणुते=स्वीकार करता

है। तेन=वही। लभ्यः=भगवान् को प्राप्त करता है। धातुः=ईश्वर की। प्रसादात्=प्रसन्नता से। वीतशोकः=जिसका शोक (संसार बन्धन) छूट गया है, वह। अक्रतुम्=क्रतुजन्य ज्ञान का अविषय। ईशम्=ईशनशील। तम्=उस परमात्मा को। महिमानम्=महिमा को अर्थात् प्रजापति विद्या में कहे हुये गुणाष्टक को। पश्यति=देखता है। परावरे=अस्मदादिकों से पर ब्रह्मा, शिवादि भी जिससे अवर अर्थात् छोटे हैं। तस्मिन्=उस परमात्मा के। दृष्टे=दर्शन होने पर। अस्य=इस जीव के। कर्माणि-सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध यह तीनों कर्म। क्षीयन्ते=क्षय हो जाते हैं। विद्वान्=ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला। तदा=उस समय। पुण्यपापे विधूय-पुण्य और पापों को छोड़कर। निरञ्जनः-मायारूपी अञ्जन से रहित होकर। परमं साम्यम्-भगवान् की परम समता को (भगद्भावापत्तिरूप मोक्ष को)। उपैति-प्राप्त होता है।

प्रश्न - भगवान् का अनुग्रह परिच्छिन्न है अथवा व्यापक है? यदि परिच्छिन्न (एक के ऊपर) है, तो साधारण जनों की कृपा के समान तुच्छ है। यदि व्यापक (सब के ऊपर) है, तो सबको ही मोक्ष होनी चाहिये, क्योंकि आप तो भगवदनुग्रह को ही मोक्ष का कारण मानते हैं। ऐसा मानने से मोक्ष के अन्य साधन तथा उनके बताने वाले शास्त्र भी व्यर्थ हैं?

उत्तर - हे जिज्ञासु ! जैसे नैयायिकों के मत में 'गोत्व' जाति व्यापक होने पर भी सास्नादिमान् गोव्यक्ति में ही उसका भान होता है। जैसे ब्रह्मवादियों के सिद्धान्त में ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने पर भी मोक्ष के समीपवर्त्ती अधिकारी विशेष में ही उसका साक्षात्कार होता है, अन्य में नहीं, वैसे ही भगवदनुग्रह सर्वत्र व्याप्त होने पर भी श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि साधनों से युक्त श्रीआचार्य के अनन्य भक्त के हृदय में प्रगट होता है, सबके हृदय में नहीं। अतः सबको मोक्ष नहीं हो सकती, और साधन बताने वाले शास्त्र भी व्यर्थ नहीं हैं। इसी कथन के सभी गुण भगवान् के स्वरूप के समान व्यापक, स्वाभाविक और मोक्षप्रद हैं-यह भी प्रतिपादन किया गया है।

जीव एक है या अनेक? इस सन्देह को दूर करने के लिये

श्रीआचार्यपाद ने "**प्रतिदेहभिन्नम्**" इस पद का प्रयोग किया है। अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त चतुर्विध देहों में जीव स्वरूपतः भिन्न है। इस कथन से जीवों का भी परस्पर में स्वाभाविक भेद है, यह प्रतिपादन किया गया है, सुतरां जीव को एक मानने वालों का मत भी इस कथन से निरस्त हो जाता है।

"**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनाम् यो विदधाति कामान्, वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः**" इत्यादि श्रुति स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति का तात्पर्यार्थ-जीव, प्रकृति और ईश्वर यह तीनों पदार्थ यद्यपि नित्य हैं, तथापि प्रलयावस्था में जीव और प्रकृति भगवान् में लय हो जाते हैं, इसलिये परमात्मा को एक चेतन कहा है और "चेतनानाम्" इस बहु वचन से जीवों को बहुत बतलाया गया है। इसी से जीवों की अनेकता प्रतिपादित हुई है और "विदधातिकामान्" इस पद से ईश्वर को सबकी कामनाओं का पूरण करने वाला बतलाया है। इससे ईश्वर की स्वतन्त्रता और सब पदार्थों की ईश्वराधीनता सिद्ध हुई। ज्ञानरूपी तप से पवित्र बहुत से जीव मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुये। इससे मुक्त जीव भी अनन्त हैं, यह सिद्ध भया।

प्रश्न - जीव के एक मानने पर भी अविद्या द्वारा परस्पर भेद हो सकता है और सब विशेषण भी सार्थक हो सकते हैं। जैसे घटाकाश मठाकाश से भिन्न है और निरवच्छिन्न महाकाश से अभिन्न है, वैसे ही अन्तःकरणयुक्त व्यष्टि जीव अविद्यायुक्त समष्टि जीव से भिन्न है और अनवच्छिन्न नित्यमुक्त ब्रह्म से अभिन्न है, उपाधिकृत भेद है?

उत्तर - हे जिज्ञासु ! तुम्हारे इस प्रश्न से तुम्हारी बुद्धि की तुच्छता ही प्रगट होती है, क्योंकि थोड़े से विचार करने पर तुम स्वयं समझ सकोगे कि कुठार के द्वारा कटे हुये काष्ठ के खण्ड के समान अन्तःकरण अथवा अविद्यारूप उपाधि निर्विशेष व्यापक ब्रह्म को काट कर भिन्न तो नहीं ही कर सकेगी, क्योंकि ऐसा करने पर ब्रह्म का निरवयवत्व, व्यापकत्व तथा जीव का अनादित्व और अजत्व नष्ट होगा और पूर्वोक्त अर्थ को प्रतिपादन

करने वाली श्रुतिस्मृतियाँ भी व्यर्थ होगी।

यदि कहो कि ब्रह्म के एक देश में रह कर अविद्या जीव और ईश्वर का ब्रह्म के साथ भेद करेगी, तो ऐसा मानने पर शंका हो सकती है कि वह अविद्या व्यापक है अथवा परिच्छिन्न ?

यदि व्यापक है, तो व्यापक ब्रह्म अविद्या से युक्त हो गया, तब जीव किस की उपासना करेगा और कौन मुक्त होगा? अतः अविद्या को व्यापक नहीं मान सकते। हाँ यद्यपि अविद्या को परिच्छिन्न मानने पर बद्ध और मोक्ष की व्यवस्था हो सकती है, तथापि घट के हटने पर जैसे घटाकाश का गमन नहीं होता, किन्तु घटरूप उपाधि ही एक जगह से दूसरी जगह चलती है, वैसे ही उपाधि के गमन से व्यापक ब्रह्म का गमन तो होगा नहीं, उपाधि का ही गमन होगा, तब उपाधि के पूर्व देशस्थ जीव (अर्थात् जिस देश में पहिले उपाधि थी, उस देश के जीव) की विना किसी साधन के मोक्ष और उत्तर देशस्थ (नित्यमुक्त) के अभ्यागमरूप दोष का प्रसङ्ग आयेगा, अर्थात् बद्धावस्था में किये कर्मों का नाश और मुक्त को विना किये कर्मो का फलस्वरूप बन्धन की प्राप्तिरूप दोष होगा।

दूसरी शङ्का भी इस तरह हो सकती है कि वह उपाधि ब्रह्म से प्रबल है या दुर्बल ? यदि उपाधि प्रबल है, तो ब्रह्म उससे छूट ही नहीं सकता और उपाधि के न छूटने से मोक्ष भी नहीं होगी, सुतरां मोक्ष विधायक शास्त्र और उसके सहकारी शम-दमादि साधन तथा गुरूपसत्ति विधायक शास्त्र भी व्यर्थ होंगे।

यदि कहो कि अविद्या ब्रह्म से दुर्बल है, तो फिर तुम बतलाओ कि वह ब्रह्म अविद्या के स्वरूप को जानता है या नहीं?

यदि ब्रह्म अविद्या के स्वरूप को जानता है, तो जानबूझ कर नाना प्रकार के दुःखों को क्यों अपने आप लेता है, कोई भी ज्ञानशील जानबूझ कर अहितकर कार्य को नहीं करता है।

यदि कहो कि ब्रह्म अविद्या और उससे होने वाले दुःखों को नहीं जानता है, तो उस अज्ञ ब्रह्म की उपासना से क्या लाभ ? अतएव हे वत्स! उपाधिप्रयुक्त भेदवाद मुमुक्षुओं को सर्वथा हेय है।

प्रश्न - जीवों के अनेक होने पर भी साधनसम्पत्तिद्वारा क्रम-क्रम से मोक्ष होते-होते एक समय सब की मोक्ष हो जायगी, तब तो विश्व का एक दम अभाव हो जायगा ?

उत्तर - हे जिज्ञासु! इसी सन्देह को दूर करने के लिये श्रीआद्याचार्य जी ने **''अनन्तम्''** पद का प्रयोग किया है अर्थात् जीव का अकस्मात् बन्धन होने से कृत नाश और अकृत का जीवों की संख्या नहीं है कि, कितने जीव हैं। **''यत्''** पद हेत्वर्थक है, अर्थात् जिस हेतु से जीव संख्यातीत हैं, इसलिये मोक्ष होने पर विश्व का अभाव नहीं हो सकता ।।१।।

प्रश्न - आपके कथनानुसार स्वरूप वाले 'जीव' का अनुभव सर्व साधारण को क्यों नहीं होता ?

उत्तर - अनादि कर्मात्मिका अविद्या के द्वारा उक्त स्वरूप वाले ''जीव'' के ''धर्मभूत ज्ञान'' का संकोच हो जाने से सर्व साधारण को जीव के उक्त स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। इसी को श्रीआद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने इस प्रकार वर्णन किया है--

अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तम् प्रभेद बाहुल्यमथापि बोध्यम् ।।२।।

अन्वय-अनादि, माया, परियुक्त रूपं, एनं, तु, वै, भगवत्प्रसादात्, विदुः, अथापि, मुक्तं, च, बद्धं, किल, बद्धमुक्तं, प्रभेद, बाहुल्यं, बोध्यम्।।२।।

समास-अनाद्या-अघटघटनापटीयस्या गुणमय्या मायया प्रकृत्या परियुक्तं परिवेष्टितं रूपं धर्मभूतं ज्ञानं यस्य तम्। भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य प्रसादस्तस्मात्। पूर्वं बद्धः पश्चान्मुक्तस्तथोक्तस्तम्।

अन्वयार्थ-अनादि अघट घटना पटीयसी त्रिगुणात्मिका माया से परियुक्त धर्म भूत ज्ञानशाली जीव को निश्चय ही श्रीपुरुषोत्तम के अनुग्रह से (मुमुक्षु गण) जानते हैं। मुक्त, बद्ध और बद्धमुक्तों के प्रचुर भेद हैं, ऐसा जानना चाहिये।

सुबोधिनी टीका

प्रश्न - यदि अनादि कर्मात्मिका अविद्या के द्वारा जीव का धर्म

भूत ज्ञान सङ्कुचित है, तो जीव का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि **''गौरनाद्यनन्तवती''** इस श्रुति के अनुसार माया अनादि और अनन्त है, अतः जीव उससे कभी भी नहीं छूटेगा। अतएव जीवों को स्वस्वरूप का वास्तविक ज्ञान भी न होगा, सुतरां जीव के स्वरूप को बताने वाली सभी श्रुतियाँ व्यर्थ हैं और जिज्ञासा भी तितिक्षा मात्र है।

उत्तर - हे वत्स! यद्यपि तुम्हारा कथन सत्य है, तब भी सर्वनियन्ता श्रीसर्वेश्वर श्रीकृष्ण के अनुग्रह से उन्हीं के द्वारा प्रवृत्त की गई अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय (श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय) अनुगत जन ही जीव के यथार्थ स्वरूप को जान सकते हैं, क्योंकि माया के अनादि और अनन्त होने पर भी प्रत्येक ''जीव'' के विशेष कर्मजन्य बन्ध और मोक्ष देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

''तमक्रतुं पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमान-मात्मनः, संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः, बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः, कैवल्यदः परंब्रह्म विष्णुरेव न संशय'' इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ प्रमाण हैं।

श्रुति और स्मृति का अर्थ-संसार के बन्धन, पालन और मोक्ष के कारण एकमात्र भगवान् ही हैं। संसार रूपी पाश से बाँधने वाले और उससे छुड़ाने वाले और मोक्ष देने वाले परब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं।

अतः जीव के धर्मभूत ज्ञान को सङ्कुचित करने वाली अविद्या की भगवदनुग्रह से निवृत्ति होने पर उस धर्मभूत ज्ञान का सर्वत्र प्रकाशित होना युक्तियुक्त है और जीव के यथार्थ स्वरूप को बताने वाली श्रुतियाँ भी सार्थक हैं और जिज्ञासा भी ठीक ही है।

प्रश्न - पुरुषोत्तम की कृपा अन्य किसी उपाय की अपेक्षा करती है, या नहीं ? यदि अन्य उपाय की अपेक्षा करती है, तब तो उपाय ही प्रधान है और कृपा गौण है और इसमें अन्योन्याश्रय दोष भी है, क्योंकि जब ईश्वर की कृपा होगी, तब जीव सात्त्विक होकर उनकी आराधना प्रभृति उपायों में प्रवृत्त होगा और जब उपायों में प्रवृत्त होगा, तब कृपा होगी, सुतरां दानों ही परस्पर में साकाङ्क्ष होने से दोनों ही नहीं होंगे ?

यदि कहो कि ईश्वर की कृपा दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं करती, तो सर्वत्र-व्यापक भगवत्कृपा से सब की मोक्ष होनी चाहिये ?

उत्तर - निरंकुश ऐश्वर्यशाली होने के कारण यद्यपि भगवान् की कृपा स्वतन्त्र ही होती है, अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं करती है, तथापि भगवान् अपने ऊपर आने वाले विषमतादि दोषों को दूर करने के लिये तथा शम, दमादि साधनों को बताने वाले वेद, शास्त्ररूपी अपनी आज्ञा की रक्षा करने के लिये अन्य उपायों का ब्याज (बहाना) मात्र स्वीकार कर जीव के ऊपर निर्हेतुक अपनी कृपा का सञ्चार करते हैं। ब्याज मात्र से स्वीकृत की गई वस्तु स्वातन्त्र्यनाश करने में समर्थ नहीं हो सकती, अतः किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है।

यहाँ तक जीव (भोक्ता तत्त्व) का यथार्थ स्वरूप बतलाया गया, अर्थात् 'जीव' ज्ञानस्वरूप, धर्म-भूत-ज्ञान का आश्रय, कर्ता, भोक्ता, अस्मदर्थस्वरूप, भगवदधीन, सर्वदा स्थिति, प्रवृत्तिशील, शरीर संयोग-वियोगार्ह, अणु, प्रतिशरीर भिन्न तथा असङ्ख्य, अनादि माया परिवेष्टित होकर पुनः भगवदनुग्रहतः मुक्त हो अपने असाधारण यावदात्मवृत्ति गुणों से युक्त होता है, यही सर्ववेदान्तप्रदर्शित यथार्थ सिद्धान्त है।

प्रश्न - अनन्त जीव भी साधारणतः कितनी प्रकार के हैं ?

उत्तर - हे वत्स ! अनन्त जीव प्रथमतः बद्ध एवं मुक्त रूप से दो प्रकार के हैं।

प्रश्न - हे अज्ञानतमापहारिन्! बद्ध जीवों का क्या लक्षण है, अच्छी प्रकार समझा दीजिये।

उत्तर - अनादि कर्मात्मिका अविद्या का कार्यस्वरूप देव, मनुष्य, तिर्यगादि शरीरों में आत्मा का अभिमान करने वाले तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले भार्या, पुत्र, धन, पशु, भूमि आदि में दृढ रूप से ममता करने वाले जीवों को बद्ध जीव कहते हैं। वह बद्ध जीव मुमुक्षु और बुभुक्षु भेद से दो विभागों में विभक्त है।

प्रश्न - मुमुक्षु जीव किसे कहते हैं, वे कितनी प्रकार के हैं ?

उत्तर - आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक संताप, पञ्च

क्लेश, षट्विकारों से उत्पन्न नाना प्रकार के दुःखों से विरक्त हों, उनसे सदा छूटने की इच्छा करने वाले जीवों को मुमुक्षु कहते हैं और वह भगवद्भावापत्ति (भगवान् के समान धर्म) को चाहने वाले और अपने स्वरूप, ज्ञान मात्र को पाकर ही सन्तुष्ट होने वाले, इन भेदों से दो प्रकार के हैं।

प्रश्न – बुभुक्षुओं का क्या लक्षण है, और वह कितने प्रकार के हैं?

उत्तर – विषयों से (प्राकृतिक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि से) आनन्द चाहने वाले जीवों को बुभुक्षु कहते हैं और वह भी भाविश्रेयस्क (भविष्य में श्रेय चाहने वाले) और नित्यसंसारी भेद से दो प्रकार के हैं।

प्रश्न – मुक्त जीव कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर – नित्यमुक्त और मुक्त भेद से मुक्त जीव दो प्रकार के हैं।

प्रश्न – नित्यमुक्त का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार के हैं?

उत्तर – गर्भ, जन्म, जरा, मरणादि तथा प्रकृति का सम्बन्ध और उस सम्बन्ध से होने वाले नानाविध दुःखों के अनुभव से रहित होते हुए भगवान् के नित्य दर्शन और सेवनादि से आविर्भूत आनन्दरस का अनवरत साक्षात्कार करने वाले जीवों को नित्य मुक्त कहते हैं, और वह आनन्तर्य्य और पार्षद भेद से दो प्रकार के हैं।

पुरुषोत्तम सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के समस्त आभूषण तथा आयुधादि आनन्तर्य्य नामक नित्यमुक्त तथा गरुड़ विश्वक्सेनादि पार्षद नित्यमुक्त हैं।

प्रश्न – मुक्त का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार के हैं?

उत्तर – अनादि कर्मात्मिका अविद्यानिरूपित प्रकृति के कार्य स्वरूप देव, मनुष्यतिर्यगादि शरीरों के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न नाना विध दुःखों से रहित जीवों को मुक्त कहते हैं।

वह भी दो प्रकार के हैं, एक तो वह हैं कि जिनको निरतिशय आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण का साधर्म्य मिल चुका है। दूसरे वे हैं कि जो अपने स्वरूप के ज्ञान से ही सन्तुष्ट हो गये हैं।

इनमें जिन्हें भगवान् का ''साधर्म्य'' मिल चुका है वह भगवदिच्छा के अनुकूल अपनी इच्छा से भगवदवतार के समान समय-समय पर धर्म-रक्षणार्थ एक ही काल में अनेक स्वरूप धारण कर सकते हैं।

''स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति, सहस्रधा भवति, अपरमितो भवति''

इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। इस प्रकार बद्ध एवं मुक्तों के अनेक भेद जानना।

इस प्रकार यहाँ तक भोक्ता तत्त्व (जीव) का संक्षेप में सामान्य बुद्धि वालों के लिये हिन्दी में प्रश्नोत्तर रूप से लिख कर बतलाया गया। इसी को विशेष जानने की यदि इच्छा हो, तो संस्कृत का अभ्यास कर स्वसम्प्रदायीय पूर्वाचार्य विरचित ''वेदान्तरत्न-मञ्जूषा'' आदि ग्रन्थों का अवलोकन कीजिये।

इति श्री पं० लाड़िलीशरण ब्रह्मचारी विरचिता भोक्तृतत्त्वस्य
सुबोधिनी नाम्नी टीका समाप्ता।

प्रश्न - हे कृपामय ! भोग्य तत्त्व का क्या लक्षण है और उसके कितने भेद हैं, कृपा कर बताइये।

उत्तर - जो वस्तु स्वार्थहीन हो, परार्थ हो और धर्मभूत ज्ञान से रहित हो, उसे अचेतन (भोग्य तत्त्व) कहते हैं, उसके प्राकृत, अप्राकृत और काल यह तीन भेद हैं। इसी को श्रीआद्याचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने इस प्रकार वर्णन किया है--यथा-

अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यम् शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ।।३।।

अन्वय-अप्राकृतं, प्राकृतरूपकञ्च, कालरूपं (यत्) तदचेतनं-मतम् (तत्र प्राकृतम्) मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं, तत्र समेऽपि (सर्वेऽपि) शुक्लादि भेदाः (सन्ति)।

समास-प्रकृतौ भवं प्राकृतम् न तत् इति अप्राकृतम्। प्राकृतं रूपं

यस्य तत् प्राकृतरूपकम्कालः स्वरूपं यस्य तत्। माया च प्रधानं च मायाप्रधाने ते आदिर्यस्य एवं भूतं यत्पदं तेन प्रवाच्यम्। प्रकर्षेण वक्तुं योग्यमितियावत्, शुक्ल आदिर्येषां त शुक्लादयः ते एव भेदाः।

प्रश्न – प्राकृत का क्या लक्षण है ?

उत्तर – शुक्ल–लोहित और कृष्ण वर्ण वाले सत्त्व, रज और तमोगुण जिसमें रहें, उसको प्राकृत कहते हैं।

प्रश्न – इन तीनों गुणों का लक्षण और उनके कार्यों को बतलाइये?

उत्तर – जिससे ज्ञान हो, उसे सत्त्व गुण कहते हैं, यही सत्त्वगुण बढने पर रजोगुण और तमोगुण को दबा कर शम दमादि साधनों के आचरणद्वारा मोक्ष का उपयोगी होता है।

जिससे लोभ उत्पन्न हो, उसे रजोगुण कहते हैं। यही रजोगुण लोभ के द्वारा मुमुक्षु को तत्त्वनिष्ठा से गिरा देता है।

जिससे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न हो, उसे तमोगुण कहते हैं। यही तमोगुण बढकर 'जीव' और 'परमात्मा' के स्वरूप और गुणों के आवरण करने में प्रधान कारण है।

इन तीनों गुणों का आश्रय जिस समय साम्य अवस्था में रहता है, उस समय वह तत्त्व माया, प्रधान, अव्यक्त आदि नामों से उच्चरित होता है।

प्रश्न – उस प्राकृत तत्त्व से सृष्टि कैसे होती है, क्योंकि वह तो अचेतन है ?

उत्तर – महाप्रलय की समाप्ति और सृष्टि के पूर्वकाल में उत्पन्न होने वाले नानाविध प्रपञ्च के कारणस्वरूप जीवों के नानाविध अनादि कर्मों के सहित अचिन्त्यशक्ति भगवान् सर्वेश्वर रमाकान्त की प्रपञ्च उत्पादन करने की चिकीर्षा ज्ञान और कृति से प्रकृति में विक्षोभ होता है।

''प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ।।'' अर्थात् श्रीहरि अपनी इच्छा से प्रकृति और पुरुष (जीव) में प्रविष्ट हो सृष्टि के समय में उन दोनों को क्षुभित करते हैं और वह प्रकृति 'महत्तत्त्व' के रूप में परिणत होती है। वह महत्तत्त्व सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का है। उस त्रिविध

महत्तत्त्व से यथाक्रम वैकारिक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का अहङ्कार होता है।

उसमें वैकारिक अहङ्कार से इन्द्रियों के स्वामी, देवता और मन होते हैं। यही मन वृत्ति के भेद से मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार भेद से चार प्रकार का होता है।

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। मन जब विषयासक्त होता है, तब जीव को बन्धन का और जब विषयासक्तिरहित होता है, तब मोक्ष का कारण होता है।

''**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मतम्।।**'' इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं।

प्रश्न - मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार का क्या लक्षण है ?

उत्तर - जिससे किसी विषय का मनन किया जाय, उसे मन कहते हैं। जिससे निश्चय किया जाय, उसे बुद्धि कहते हैं। जिससे चिन्तन किया जाय, उसे चित्त कहते हैं। जिससे देह में आत्मा (जीव) का अभिमान हो, उसे अहङ्कार कहते हैं।

इनके यथाक्रम से चन्द्र, ब्रह्मा, शिव और क्षेत्रज्ञ ही अधिष्ठाता देवता हैं।

प्रश्न - कहीं-कहीं पर तो श्रुतियों में इनके वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध देवता बतलाये गये हैं।

उत्तर - हे वत्स ! तात्पर्य ज्ञान के विना वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता, अतः वाक्यार्थ से पूर्व में श्रुति का तात्पर्य समझना चाहिये। जिस श्रुति में वासुदेवादि देवता बताये गये हैं, उसका तात्पर्य यह है कि कहीं कहीं पर प्रतीकोपासना श्रुतियों में मिलती है। जैसे ''**मनोब्रह्म इत्युपासीत**'' उस जगह मन आदि के अधिष्ठाता चन्द्रादि और उनके भी अधिष्ठाता वासुदेवादि हैं, उनकी उपासना करनी चाहिये। इसी तात्पर्य से किसी-किसी श्रुति ने मन आदि के वासुदेवादि देवता बतलाये हैं। ऐसा अर्थ करने पर दोनों तरफ की श्रुतियों का समन्वय हो जाता है।

प्रश्न - मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार का स्थान शरीर में किस

जगह है ? यह प्रमाणसहित बतलाइये।

उत्तर - गल देश के मध्य में मन का स्थान है। मुख में बुद्धि का, हृदय में अहङ्कार का और नाभि देश में चित्त का स्थान है, यह सब शारीरिक उपनिषद् में लिखा है।

तैजस अहङ्कार से पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, उनके नाम यथाक्रम से कर्ण, त्वक्, नेत्र, रसना, नासिका, वाक्, हस्त, पाद, पायु, और उपस्थ (लिङ्ग) हैं।

और इनका विषय भी यथाक्रम से निम्नलिखित प्रकार से है--

यथा सुनना, स्पर्श करना, देखना, रस ग्रहण करना, गन्ध ग्रहण करना, बोलना, देना-लेना, चलना-फिरना, मल त्याग करना, विषयानन्द करना, यह सब सुबालोपनिषद् में लिखा है।

यह सब इन्द्रियाँ अणु हैं और प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न हैं और मोक्ष के पूर्व तक जीव के साथ इनकी स्वाभाविक स्थिति है।

तामस अहङ्कार से शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पञ्च तन्मात्रायें और इन्हीं से आकाशादि पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं।*

प्रश्न - तन्मात्रा किसको कहते हैं ?

उत्तर - तामस अहङ्कार और भूतों के मध्य में होने वाले सूक्ष्म परिणामस्वरूप द्रव्य को तन्मात्रा कहते हैं। जैसे दूध और दही के मध्य में बुदबुदे होते हैं, वैसे ही तामस अहङ्कार और भूतों के मध्य में तन्मात्रायें होती हैं, वही स्थूल होने पर भूत कहे जाते हैं। उसका क्रम इस प्रकार है— भूताहङ्कार से शब्दतन्मात्रा और उससे आकाश, आकाश से स्पर्श तन्मात्रा

---

* यहाँ पर तन्मात्रा और गुणों का समान नाम होने से दोनों को एक न समझ लेना, क्योंकि तन्मात्रायें भूतों का कारण होने से द्रव्य हैं और शब्दादि भूतों के आश्रित होने से ''गुण'' हैं। ऐसा न मानने से महान् विरोध है क्योंकि कारण कार्य के पूर्व में नियत रूप से रहता है और गुण, कार्य, स्थिति के एक क्षण पश्चात् होता है। अतः एक वस्तु एक का कारण और गुण नहीं हो सकता।

और उससे वायु, वायु से रूप तन्मात्रा और तेज, तेज से रस तन्मात्रा और उससे जल, जल से गन्ध तन्मात्रा और गन्ध से पृथ्वी उत्पन्न होती है। अतः आकाश का शब्द, वायु का शब्द और स्पर्श, तेज का शब्द, स्पर्श, रूप, जल का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पृथ्वी का शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण है, यह सब लौकिक उपनिषद् में लिखा है।

शरीरधारणादि का कारणस्वरूप वायुविशेष को प्राण कहते हैं। यही वायु शरीर के विशेष स्थानों पर पहुँचने से प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचों नामों से कही जाती है।

इनके लक्षण और स्थान निम्नलिखित प्रकार से हैं--

नासिका में रहने वाली ऊर्ध्वगमनशील वायु को प्राण कहते हैं। पायु आदि निम्न स्थानों में रहने वाली अधोगमनशील वायु को अपान कहते हैं। समस्त शरीर में रहने वाली सर्वत्र गमशील वायु को व्यान कहते हैं। कण्ठ देश में रहने वाली तथा खाई, पीई हुई वस्तुओं को ऊपर उठाने वाली वायु को उदान कहते हैं। सर्वाङ्ग में स्थितिशील तथा खाई, पीई वस्तुओं को समान करने वाली वायु को समान कहते हैं। यह सब मैत्रेय उपनिषद् में लिखा है।*

इस प्रकार प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, दस इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रायें और पञ्च महाभूत यह सब २४ तत्त्व हैं और २५ वाँ पुरुष है। यही २५ तत्त्व साङ्ख्य में बतलाये गये हैं।

इन्हीं पञ्च महाभूत, प्रकृति, महत्तत्त्व और अहङ्कार से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है और आभूषणों में मणि की तरह इस शरीर में दस इन्द्रियाँ खचित हैं।

पञ्च तन्मात्रा, मन, दस इन्द्रियाँ और प्राण से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है, जिसको लिङ्ग शरीर कहते हैं। यह शरीर मोक्ष के पूर्वकाल तक

---

* कोई-कोई नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामक पाँच प्रकार की वायु स्वीकार कर १० प्रकार का प्राण मानते हैं, किन्तु इसमें प्रमाण न होने से यह सब प्राणवायु के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

बना ही रहता है। मोक्ष के समय भगवान् के साक्षात्कार से ही इसकी निवृत्ति होती है। **''इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तंगच्छन्ति''** इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।*

प्रश्न – शरीर किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर – नियत रूप से चेतन का आश्रय होकर चेतन के बिना जिसकी पृथक् रूप से स्थिति न हो, उसे शरीर कहते हैं, वह नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं।

प्रश्न – नित्य शरीर किसका है ?

उत्तर – समस्त मङ्गलों के निधि ध्येय, ध्यान करने वालों को समस्त पुरुषार्थ देने वाले रमाकान्त श्रीकृष्ण तथा नित्यमुक्त जीवों का शरीर नित्य है।

प्रश्न – अनित्य शरीर कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर – अकर्मज और कर्मज भेद से अनित्य शरीर दो प्रकार का है।

प्रश्न – किसका अकर्मज शरीर है ?

उत्तर – पुरुषोत्तम का विराट् शरीर तथा ईश्वरेच्छानुकूल नित्यमुक्त जीव के द्वारा धर्मसंरक्षणार्थ भूतल पर परिगृहीत शरीर अकर्मज शरीर है।

प्रश्न – कर्मज शरीर कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर – कर्म के तारतम्य से कर्मज शरीर ८४ लक्ष प्रकार का है। वह प्रथमतः स्थावर और जङ्गम भेद से दो प्रकार के समझना। वृक्षलता, पर्वतादिकों का शरीर स्थावर है तथा देव, मनुष्य पशु-पक्षी नारकीय जनों का शरीर जङ्गम है। यही दोनों शरीर जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से ४ प्रकार के जानना, जिसमें मनुष्य, पशु आदि का शरीर जरायुज है। पक्षी, पन्नगादिकों का शरीर अण्डज, यूका, मशकादिकों का शरीर स्वेदज और लता वृक्षादिकों का शरीर उद्भिज्ज है।

---

* प्राण स्पर्श तन्मात्रा का कार्य है, इस तन्मात्रा के साथ प्राण को एक मान कर श्रुति ने १६ सङ्ख्या का उपदेश दिया है।

कार्य कारण से पृथक् नहीं है। जैसे मिट्टी से बना हुआ घट मिट्टी से पृथक् नहीं है, वैसे ही प्रकृति से बने हुए २४ तत्त्व भी प्रकृति से भिन्न नहीं हैं। अतः यह सब भी प्रकृति पदवाच्य होने से सत्स्वरूप ही है। क्योंकि सद्रूपा प्रकृति ही अवस्थान्तर को प्राप्त होकर सद्रूप कार्य में परिणत हुई है। **''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्यः''** इत्यादि श्रुति और सूत्रों से कार्य भी सद्रूप है, यही प्रमाणित होता है। ऐसा न मानने से कार्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और **''असतः सम्भवः कुतः, नासतो विद्यते भावः''** असत् कैसे उत्पन्न हो सकता है, असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन वाक्यों का व्याकोप भी होगा। अतः कार्य (जगत्) और कारण (प्रकृति) सत्स्वरूप है यही वेदान्त का निर्णीत सिद्धान्त है।

यही सब प्राकृत पदार्थ जीव के भोग्य और उसके साधन और भोग्य के स्थान हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और इनसे युक्त स्रक् चन्दन, वनिता, पशु, पुत्रादि भोग्य हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भोग्य के साधन हैं तथा ब्रह्माण्डान्तर्गत भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तप, सत्य, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, और पाताल यह चतुर्दश भुवन ही भोग्य के स्थान हैं और यही सब श्रीपुरुषोत्तम की क्रीड़ा के साधन तथा स्थान हैं।

कैथ के फल के समान पञ्चीकृत महाभूतों से बना हुआ चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड प्राकृत होने से सुख-दुःख का कारण है। अतः मुमुक्षुओं को सर्वथा प्रयत्नपूर्वक इसकी इच्छा त्यागनी चाहिये (अर्थात् मुमुक्षुओं को इसमें आसक्त नहीं होना चाहिये)।

प्रश्न - पञ्चीकृत पञ्च महाभूत का क्या अर्थ है ?

उत्तर - पञ्चीकृत प्रक्रिया से बने हुए पूर्वोक्त पञ्च महाभूतों को ही पञ्चीकृत पञ्च महाभूत कहते हैं।

प्रश्न - पञ्चीकरण प्रक्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर - सर्वशक्तिमान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने पृथ्वी आदि पाँच भूतों को रच उनको दो भागों में बाँट दिया। फिर प्रत्येक भूत का आधा-आधा

भाग अलग कर द्वितीय अर्द्ध भाग को चार भागों में विभक्त कर प्रत्येक में एक-एक भाग मिला दिया, सुतरां पञ्च महाभूतों में आधा-आधा भाग तो प्रत्येक भूत का है और आधे में चारों अन्य भूतों का भाग मिला हुआ है। जिसमें जिसका अधिक भाग है, उसी में उसका व्यवहार होता है। सब भूतों में सब भूत मिले रहने से सर्वत्र शब्दादियों की उपलब्धि होती है, इसी को पञ्चीकरण कहते हैं।

इसमें अन्न के विकार से शरीर बना है। अतः शरीर को अन्नमय पुरुष कहते हैं। कर्मेन्द्रियों के सहित मन को मनोमय पुरुष कहते हैं, कर्मेन्द्रियों के सहित पञ्चप्राण को प्राणमय पुरुष कहते हैं, जीव को विज्ञानमय पुरुष कहते है और परब्रह्म श्रीकृष्ण को आनन्दमय पुरुष कहते हैं। यह विस्तारपूर्वक आनन्दमयाधिकरण में श्री श्रीनिवासाचार्यजी ने युक्तिपूर्वक निरूपण किया है।

प्रश्न - प्रलय किस प्रकार से होती है ?

उत्तर - सृष्टि के विपरीत क्रम से प्रलय होती है। अर्थात् पृथ्वी गन्ध तन्मात्रा के द्वारा जल में लीन होती है, जल रसतन्मात्रा के द्वारा तेज में, तेज रूपतन्मात्रा के द्वारा वायु में, वायु स्पर्श तन्मात्रा के द्वारा आकाश में, आकाश शब्द तन्मात्रा के द्वारा तामसाहङ्कार में लीन होता है। दश इन्द्रियाँ राजसाहङ्कार में तथा इनके अधिष्ठाता देवता और मन सात्त्विक अहङ्कार में लीन होते हैं। यह त्रिविध अहङ्कार महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व प्रकृति में, प्रकृति पुरुष में, पुरुष परंब्रह्म श्रीकृष्ण में लीन होता है। कोई-कोई कारण के नाशक्रम से महाप्रलय का होना मानते हैं। किन्तु यह मानना भूल है, क्योंकि कारण के नाश होने पर कार्य की स्थिति ही असम्भव है।

इस प्रकार प्राकृत अचेतन तत्त्व का निरूपण संक्षेप में किया गया, अब कालस्वरूप का निरूपण करता हूँ।

प्राकृत और अप्राकृत से भिन्न अचेतन द्रव्य को काल कहते हैं। वह नित्य और विभु है। **''अथ ह वा नित्यानि पुरुषः प्रकृतिः कालः''** इत्यादि श्रुतियों में बताया गया है कि, पुरुष, प्रकृति और काल यह तीनों ही नित्य हैं। क्योंकि **''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्''** इत्यादि श्रुतियों में

सृष्टि के पूर्व महाप्रलय में भी काल की सत्ता ''अग्रे''इस पद से पाई जाती है। विष्णु पुराण में लिखा है कि-''**अनादि भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज उच्यते**'' हे ब्राह्मण ! भगवान् काल अनादि और अनन्त हैं।

यही काल भूत, भविष्य, वर्तमान, युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि व्यवहारों का तथा परमाणु से परार्द्ध पर्यन्त व्यवहार का असाधारण कारण है।

जितनी देर में सूर्य परमाणु बराबर देश को आक्रमण (गमन) करता है, उसे परमाणु कहते हैं-दो परमाणु से द्वयणुक-तीन द्वयणुक से त्रसरेणु, तीन त्रसरेणु से १ त्रुटि-१०० त्रुटि से १ वेध-३ वेध से १ लव, तीन लव से एक निमेष, १५ निमषसे एक काष्ठा, ३० काष्ठा से एक कला, ३० कला से एक मुहूर्त, ३० मुहूर्त से एक दिन रात, १५ दिन रात से एक पक्ष, २ पक्ष से एक मास, दो मास से एक ऋतु, ६ मास किंवा ३ ऋतु से एक अयन, २ अयन से एक वर्ष, मनुष्य के एक वर्ष से देवताओं का एक दिन रात होता है। दिव्य १२००० वर्षों में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग का एक चतुष्टय माना है । इसमें ४८०० दिव्य वर्षों में सन्ध्या सहित सत्ययुग, ३६०० दिव्य वर्षों में सन्ध्यासह त्रेतायुग, २४०० दिव्य वर्षों में सन्ध्यासह द्वापर, १२०० दिव्य वर्षों में ससन्ध्या कलियुग, युग चतुष्टय से ब्रह्मा का एक दिन, ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु हो जाते हैं, १४ बार सप्तर्षि और १४ वार इन्द्र हो जाते हैं। ब्रह्मा की रात्रि इतनी ही बड़ी है, इस प्रकार के दिन रात के हिसाब से ब्रह्मा की एक शतवर्ष की आयु है। इस समय ब्रह्मा का प्रथम परार्द्ध बीत चुका है, द्वितीय परार्द्ध का प्रथम कल्प जिसे कि ''वाराह कल्प'' कहते हैं, वह चल रहा है।

सम्पूर्ण प्राकृत जगत् इसी काल के अधीन है। किन्तु यह काल भी पुरुषोत्तम सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के आधीन है। क्योंकि ''स कालकालो गुणी सर्ववेद्यः'' इत्यादि श्रुतियों से जाना जाता है कि वह भगवान् काल के भी काल हैं।

जैसे रंगशाला में 'नट' राजा का वेष बना राजा का अनुकरण मात्र करता है, राजा नहीं हो जाता, वैसे ही लीलास्थलों में भगवान् काल के आधीन होने का अनुकरण मात्र करते हैं। उसके आधीन नहीं होते हैं

और नित्यविभूति में तो काल का स्पर्श तक नहीं है। क्योंकि--

''**कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणाम हेतुः**''

इत्यादि श्रुतियों में उपर्युक्त कथा का ही समर्थन किया गया है।

यह काल स्वरूप से नित्य है और कार्यरूप से अनित्य है, क्योंकि पूर्वोक्त कलामुहूर्तात्मक कार्यस्वरूप काल सूर्य के परिभ्रमणरूप उपाधि से जन्य है, अतः अनित्य है।

इति काल निरूपणम्।

प्रश्न – अप्राकृत अचेतन किसे कहते हैं और यदि उसका अन्य भी कुछ नाम हो तो वह नाम और उसमें किसका निवास है, यह सब कृपा कर बताइये। आपके कथन से मेरा समस्त सन्देह दूर होता है।

उत्तर – हे वत्स ! सत्त्व, रज और तमोगुण का आश्रयस्वरूप प्रधान माया और काल से विभिन्न तथा कोटि सूर्यवत् प्रकाशमान, स्वभावतः आवरण शून्य अचेतन द्रव्य को अप्राकृत अचेतन कहते हैं। क्योंकि ''**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**'' इत्यादि श्रुतियों से पूर्वोक्त कथन ही प्रमाणित होता है।

यहाँ पर समझ लेना कि उपर्युक्त श्रुति में ''तमसः'' पद का अर्थ माया और काल है। अतः त्रिगुणात्मक द्रव्य से भिन्न होने पर भगवद्धाम शुद्ध माया का कार्य है, ऐसा मानने वालों का खण्डन इस श्रुति से हो जाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि परविभूति (अर्थात् प्रकृतिमण्डल से भिन्न देशीय भगवद्धाम) आवरण शून्य प्रकाशमान् और माया से परे है, किन्तु लीलाविभूति (अर्थात् क्रीडनार्थ जगत् में दृश्यमान भगवद्धाम द्वारिका, मथुरा, अयोध्यादि) परिच्छिन्न के समान दीखने पर भी अपरिच्छिन्न, प्रकाशमान और माया से रहित है। यह श्रीमद्भगवद्गीता के एकादशाध्याय के विश्वरूपदर्शन कराने का प्रसङ्ग मनन करने पर स्वयं ही समझ सकोगे। आनन्द का अभिव्यञ्जक (प्रगट करने वाला) होने से इसे भगवद्धाम लोक, परमव्योम, विष्णु पद, परम पदादि भी कहते हैं।

वह भगवद्धाम भगवान् के सङ्कल्प मात्र से ही भगवान् तथा

नित्यमुक्तों के भोग्यादि रूप से नाना प्रकार का है। जैसे भगवद्विग्रहादि भोग्य है।

भूषण, आयुध, यान, आसन, पुष्प, पत्रादि भोग्य के उपकरण हैं। गोपुर, चत्वर, प्राकार, मणिमण्डप, वन, उपवन, सरोवरादि भोग्य के स्थान हैं।

भगवान् और नित्यमुक्तों का विग्रह (शरीर) भगवान् की अनादि अनन्त इच्छा के आधीन स्वाभाविक है, अर्थात् स्वभावसिद्ध है और भगवदनुग्रह से जिनका प्रकृति से सम्बन्ध नष्ट हो चुका है, ऐसे मुक्तों का भगवान् की अनादि अनन्त इच्छा से अनादि सिद्ध विग्रह (शरीर) से योग हो जाता है, क्योंकि भगवद्धाम विकार से रहित है। अतः वहाँ पर कोई वस्तु जन्य नहीं है। किन्तु जैसे राजा उत्सवादिकों पर पूर्व से ही प्रस्तुत आभूषणादिकों को प्रसन्न होकर भृत्यादिकों को देता है, वैसे ही प्रकृति का सम्बन्ध छूटने के समय भगवान् भी प्रसन्न हो, सर्व विकारशून्य स्वसेवोपयुक्त नित्य सिद्धविग्रहादि मुक्त जीवों को प्रदान करते हैं।

भगवान् सर्व दर्शन, सर्व स्पर्शन, सर्वत्र गमनादि करने में स्वाभाविक शक्तिमान् हैं। अतः उनके विग्रह में प्राकृत इन्द्रियों की कल्पना न करना। क्योंकि- "**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श‍ृणोत्यकर्णः यस्मादतीन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः श‍ृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते**" इत्यादि श्रुतियाँ भी पूर्वोक्त मत का ही समर्थन करती हैं। अर्थात् प्राकृत हाथ-पावों से रहित होने पर भी वेगशाली और ग्रहीता है। प्राकृत चक्षु से रहित होने पर भी सबको देखने वाला और प्राकृत कर्णों से रहित होने पर भी सबकी सुनने वाला है। प्रकृति और इन्द्रियों से शून्य होने पर भी सब तरफ देखता है, सुनता है, चलता है और ग्रहण करता है।

उसी प्रकार भगवान् के सादृश्य को प्राप्त नित्य मुक्त और मुक्तों के विग्रह में भी इन्द्रियों की कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो भगवान् के सदृश हो गये हैं। "**निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**" अर्थात् माया के अञ्जन से रहित होकर परम सादृश्य को प्राप्त हो गये हैं इत्यादि श्रुतियाँ पूर्वोक्त मत की पुष्टि करती हैं।

सादृश्य का अर्थ ''**तद्भिन्नत्वे सति सद्गतभूयो धर्मवत्वम्**'' ही यह है कि उससे स्वरूपतः भिन्न होते हुये उसके बहुत से धर्म जिसमें हों, उसको उसका सादृश्य कहते हैं। इससे ही स्पष्ट होता है कि मुक्तावस्था में भी जीव का भगवान् से स्वरूपतः भेद है।

वह अप्राकृत भगवद्धाम कालातीत वस्तु है, अतः उसमें काल का कुछ भी प्रभाव नहीं है।

इस प्रकार प्राकृत, काल और अप्राकृत भेद से तीन प्रकार का 'अचेतन तत्त्व' सामान्य बुद्धि वाले जिज्ञासुजनों के बोध के लिये सङ्क्षेप से हिन्दी में लिख कर प्रकट किया गया।

इति श्री पं० लाडिलीशरण ब्रह्मचारिविरचिता अचेतन
तत्वस्य सुबोधिनी टीका समाप्ता।

प्रश्न – हे सर्वसन्देह निवर्तक ! हे गुरो !! कृपा कर ''नियन्ता'' (ईश्वर) तत्त्व का स्वरूप बताईये ? क्योंकि इस तत्त्व में मैंने अनेक मतों का प्रभेद सुना है।

उत्तर – हे वत्स ! इस तत्त्व का स्वरूप, अज्ञानतिमिरान्धजनों को विष्णुमार्ग के प्रदर्शक–आद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य के कथनानुसार ही बताता हूँ। क्योंकि वह श्रीसुदर्शन के अवतार हैं, अतः सर्वज्ञ होने से उनका सिद्धान्त सर्वांश में प्रमात्मक होने से मुमुक्षुओं को सादर समुपादेय है।

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।४।।

अन्वय-स्वभावतोऽपास्त-समस्त-दोषम्, अशेषकल्याण गुणैकराशिम्। व्यूहाङ्गिनम्, ब्रह्मपरम्, वरेण्यम्, कमलेक्षणम्, हरिम् कृष्णम्, ध्यायेम।।

समास-स्वभावतोऽनादि प्रकृत्यैव अपास्ता निरस्ताः समस्ताः सकला दोषा यस्मात् तम्। अशेषाणां कल्याणात्मकानां

गुणानां एको मुख्यो यो राशिः पुञ्जभूतस्तम्। व्यूहा एव अङ्गानि विद्यन्ते यस्य तम्। वरितुं योग्यस्तम्। कमलोपम ईक्षणे यस्य तम्। यद्वा कमलया लक्ष्म्या ईक्ष्यते इति कमलेक्षणः तम्।

नियन्ता तत्त्व स्वभाव से ही सब दोषों से रहित है।

प्रश्न – दोष किसको कहते हैं ? और वह कितने प्रकार के हैं ? और किसमें रहते हैं ?

उत्तर – जिससे आत्मा का अपकर्ष हो, उसे दोष कहते हैं। वह नाना प्रकार के हैं और बद्ध जीवों में रहते हैं, जिनमें से प्रधान-प्रधान कुछ बतलाता हूँ। जैसे पञ्चक्लेश, षड्विकार, प्राकृत, सत्त्व, रज और तमोगुण तथा उन गुणों से होने वाले अनन्त दोष हैं।

प्रश्न – पञ्चक्लेशों का नाम और प्रत्येक का लक्षण क्या है ?

उत्तर – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यही पञ्चक्लेश हैं, इन्हीं को तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहते हैं। जो जीव के धर्मभूत ज्ञान को आवृत करदे उसे अविद्या कहते हैं। जिससे देहादि में ''अहम्'' यह ज्ञान हो, उसे अस्मिता कहते हैं। वैषयिक भोगों की इच्छा को ''राग'' कहते हैं। क्रोध को द्वेष कहते हैं। शरीर के नाश से आत्मा (जीव) का नाश मान लेने को ''अभिनिवेश'' कहते हैं।

प्रश्न – छः विकार कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और मरण यही छः विकार हैं।

प्रश्न – यह दोष भगवान् में नहीं हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर – हे वत्स ! इसमें ''**य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे**'' इत्यादि श्रुति स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

और हे वत्स ! इस कथन से ही ''**निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्**'' इत्यादि श्रुतियों की भी व्याख्या हो गई, क्योंकि ये

श्रुतियाँ भी पूर्वोक्त हेय क्लेशादि तथा प्राकृत गुणों का ही निषेध करती हैं, दिव्य कल्याण गुणों का निषेध नहीं करती हैं।

यह दोषात्यन्ताभाव भी भगवान् का सार्वज्ञादि गुणों के समान भावरूप धर्मविशेष है।

प्रश्न - यदि भगवान् में गुण और दोष दोनों ही नहीं हैं, तो क्या वह निर्विशेष हैं ?

उत्तर - नहीं वत्स ! वह निर्विशेष नहीं हैं, किन्तु अपरिमित दिव्य, कल्याण, गुणों के आश्रय है, इसी को श्रीआद्याचार्यजी ने भी **''अशेष कल्याणगुणैकराशिम्''** इस पदसे बतलाया है। अर्थात् अपरिमित कल्याणगुणों का एक मुख्य पुञ्जस्वरूप श्री भगवान् हैं, अथवा अपरिमित कल्याणगुणों की राशियाँ जिनमें अनवरत विराजमान हैं।

प्रश्न - भगवन् ! जिससे मुमुक्षुओं का विशेष उपयोग होता हो, ऐसे भगवान् के कुछ दिव्य गुणों का उल्लेख कर उनका अर्थ समझा दीजिये।

उत्तर - हे वत्स ! यह तुमने बहुत सुन्दर प्रश्न किया। अच्छा सुनो! मुमुक्षुओं के अत्यन्त उपयोगी होने से भगवा्न् में रहने वाले ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य्य, सौशील्य, वात्सल्य, आर्जव, सौहार्द, सर्व शरण्यत्व, कारुण्य, स्थैर्य्य, धैर्य्य, माधुर्य्य, मार्दवादि गुणों का सङ्क्षेप में अर्थ समझाता हूँ।

सर्व देश, काल और वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव को ज्ञान कहते हैं। जो न हो सके उसे भी कर दें, ऐसी सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। विश्व के धारण, पोषणादि की शक्ति को बल कहते हैं। ब्रह्माण्ड को शासन करने वाली शक्ति को ऐश्वर्य, अपरिमित परिश्रम का कारण होने पर भी परिश्रम न होने को तेज, दूसरे से अभिभव न होते हुए दूसरे को पराभव करने वाली शक्ति को वीर्य्य कहते हैं। यह छः गुण जगत् की सृष्टि आदि के उपयोगी हैं और भगवत्पदवाच्य परब्रह्म श्रीकृष्ण में स्वभाव से ही रहते हैं।

जाति के महत्त्व को न देख कर अत्यन्त मन्द जनों के साथ भी

निष्कपट भाव से मिलने को सौशील्य, भक्त के दोषों को न देखने को वात्सल्य, मन, वचन और शरीर से समभाव रहने को आर्जव, अपनी शक्ति को अतिक्रमण कर आश्रित जनों की रक्षा करने का नाम सौहार्द, ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी जीवों के उपाय भाव को सर्वशरण्यत्व, दूसरे के दुःख को दूर करने वाले स्वभाव को कारुण्य, युद्धादि में अचल रहने को स्थैर्य्य, अपनी प्रतिज्ञा पालन को धैर्य्य, अमृत के समान मधुर (सुन्दर) दर्शन को माधुर्य, आश्रित व्यक्तियों के दुःख को न सहन करने वाले स्वभाव को मार्दव कहते हैं। भगवान् इन गुणों का अपना आश्रय देने तथा आश्रित जनों की रक्षा करने में उपयोग करते हैं।

ऐसे-ऐसे असङ्ख्य गुण आप में विराजमान हैं, जिसका अन्त आज तक कभी न किसी को हुआ है, न होगा। अतएव आपको ब्रह्म कहते हैं, क्योंकि जो वस्तु स्वरूप से व्यापक है और अनन्त गुणों का आधार है उसे ही ब्रह्म कहते हैं। **''बृंहति बृंहपति तस्मादुच्यते परंब्रह्म''** इस श्रुति के अनुसार विग्रह कर वृहिवृंहि वृद्धौ धातु से उणादि गण में मन् प्रत्यय करने पर ब्रह्म सिद्ध होता है। इसके अर्थ का यदि सङ्कोच न किया जाय, तो देश, काल और वस्तु के परिच्छेद (आवरण) से जो रहित है, उसको ब्रह्म कहते हैं और वह भगवत्पदवाच्य पुरुषोत्तम रमाकान्त श्रीकृष्ण ही हैं। इसी को अन्यान्य श्रुतियाँ भी पुष्ट करती हैं और श्रीमद्भग-वद्गीता में आपने भी अपने श्रीमुख से कहा है। यथा **''तस्मात्कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्, मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव''** अर्थ-इसलिए श्रीकृष्ण ही परदेव (परंब्रह्म हैं, उन्हीं का ध्यान करो। हे धनञ्जय ! मेरे से परे श्रेष्ठ कोई नहीं है। सूत में मणियों की तरह यह सब ब्रह्माण्ड मेरे में ओत-प्रोत है।

प्रश्न - श्रीकृष्ण तो अवतार हैं, वह परंब्रह्म कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर - साम्यातिशय शून्य श्रीकृष्ण अजहत् स्वरूप गुणशाली होने के कारण अवतार दशा में भी परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप ही हैं, अतएव श्रीआद्याचार्यजी ने भी आपका **''व्यूहाङ्गिनम्''** यह विशेषण दिया है। यहाँ पर व्यूह शब्द अन्य अवतारों का भी बोधक है, अर्थात् व्यूह और

अवतार जिनके अङ्ग हैं अर्थात् वह अनन्त मूर्ति हैं। इसमें ''सर्वनामा सर्वकर्मा सर्वलिंगः सर्वगुणः सर्वकामः सर्वधर्मः सर्वरूपः'' इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं, अतः आप उभय विभूति (लीलाविभूति और ब्रह्मविभूति) के अधीश्वर हैं।

प्रश्न – व्यूह किसको कहते हैं और वह कितने प्रकार का है ?

उत्तर – श्रीपुरुषोत्तम का विश्व की सृष्टि आदि के लिये तथा तत्तत्प्रकार की उपासना प्रवृत्र करने के लिये तत्तत्स्वरूप से अवस्थित होने का नाम ही व्यूह है और वह वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भेद से चार प्रकार का है। इसमें ''व्यूहात्मानं चतुर्धा वै वासुदेवादि मूर्तिभिः, सृष्ट्यादीनि करोत्येष विश्रुतात्मा जनार्दनः'' इत्यादि शास्त्रीय वचन प्रमाण हैं। एवं ऊर्ध्वपुण्ड्र विधायक मन्त्रों के देवता केशवादि भी द्वादश व्यूह हैं।

प्रश्न – अवतार किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर – अपनी इच्छा से धर्म के संस्थापन तथा अधर्म के नाश करने और अपने अनन्य भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये अनेक प्रकार की दिव्य विग्रहों से प्राकृत जगत् में प्रकट होने का नाम अवतार है। वह गुणावतार, पुरुषावतार और लीलावतार भेद से तीन प्रकार का है।

प्रश्न – गुणावतार किस को कहते हैं ?

उत्तर – सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के नियामक होते हुये, उन गुणों के अभिमानी देवता और काल के द्वारा सृष्टि-स्थिति और संहार करने वाले अवतार को गुणावतार कहते हैं।

प्रश्न – पुरुषावतार किसको कहते हैं और वह कितने प्रकार के हैं?

उत्तर – पुरुष रूप से प्रकट होने का नाम ही पुरुषावतार है और वह तीन प्रकार का है। यथा-प्रकृति को नियमन कर महत्तत्त्व को सृष्टि करने वाले कारणार्णवशायी प्रथम पुरुषावतार, समस्त विश्व के अन्तर्यामी, गर्भोदशायी द्वितीय पुरुषावतार, प्रत्येक के अन्तर्यामीक्षीरोदशायी तृतीय-पुरुषावतार हैं। इसमें ''**प्रथमन्तु महत् सृष्टं द्वितीयन्त्वण्डसंस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते**'' इत्यादि शास्त्रीय वचन

प्रमाण हैं।

एक ही ब्रह्म अपनी अघटघटनापटीयसी शक्ति से तत्तत्स्थानों में एक ही समय शयन करने से उन-उन संज्ञाओं को (नामों को) धारण करते हैं।

प्रश्न-लीलावतार किसको कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - आवेशावतार और स्वरूपावतार प्रथमतः लीलावतार दो प्रकार के हैं। उसमें भी आवेशावतार के ''स्वांशावेश'' और ''शक्त्यंशावेश'' से दो प्रभेद हैं। उनके लक्षण निम्नलिखित प्रकार से हैं-

किसी जीव के व्यवधान के बिना साक्षात् अपने अंश से प्राकृत विग्रह में आविर्भूत होने को स्वांशावेशावतार कहते हैं जैसे नर-नारायणादि। किसी जीव विशेष में अपनी शक्ति के कुछ अंश को प्रकट कर तत्तत् कार्य को सिद्ध करने वाले अवतार को शक्त्यंशावतार कहते हैं। जैसे कपिलदेव, ऋषभदेव, चतुःसनकादि, श्रीनारद, व्यासादि। यही शक्ति के तारतम्य से ''प्रभव'' और ''विभव'' नाम से कहे जाते हैं। जैसे धन्वन्तरि पशुरामादि को प्रभव संज्ञक शक्त्यंशावतार, और उपर्युक्त सकल को विभव संज्ञक शक्त्यंशावतार कहते हैं।

सत्, चित् और आनन्दात्मक स्वरूप से प्रकट होने का नाम ही स्वरूपावतार है।

जैसे दीपक से प्रज्वलित द्वितीय दीपक स्वरूप, गुण और शक्ति से समान है, वैसे ही उभयविभूतिपति सर्वेश्वर श्रीकृष्ण से प्रकट होने वाले स्वरूपावतार भी स्वरूप, गुण और शक्ति आदि में समान हैं। यह अवतार भी अंश और पूर्ण भेद से दो प्रकार का है, स्वरूपावतार पूर्ण होने पर भी अल्प गुण, शक्ति आदि के प्रकट करने से अंशावतार कहा जाता है। जैसे मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, हयग्रीव, हंसादि। अपने सभी गुण, शक्तियों को प्रगट करने वाला अवतार पूर्णावतार कहा जाता है। जैसें श्रीनृसिंह, श्रीदाशरथी राम एवं श्रीकृष्ण--

प्रश्न - **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि**

जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व'' इत्यादि श्रुतियाँ तो यही बतलाती हैं कि, जिससे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय हो तथा मुक्तावस्था में जीव जिसमें प्रवेश करें, वही ब्रह्म है और उसी को जानना चाहिये। ऐसा कौन है,ऐसी शङ्का होने पर दूसरी श्रुति बतलाती है **''आदि कर्त्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्त्तत, ब्रह्मा देवानां प्रथम सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता''** और एक श्रुति कहती है कि, **''न सन्नचासंच्छिव एव केवलः, एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्य यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च''** अतः ब्रह्म पद से इनका भी ग्रहण है, क्योंकि पूर्वोक्त श्रुतियों में इनसे ही सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति आदि सुनी जाती हैं, तब आप किस प्रकार श्रीकृष्ण को ही ब्रह्म बतला रहे हैं?

उत्तर – हे वत्स ! इस सन्देह को दूर करने के लिए ही श्रीआद्याचार्य जी ने ''परम'' यह विशेषण श्रीकृष्ण का किया है। अर्थात् श्रीकृष्ण जगत् के कर्त्ता, ब्रह्मा, शिव आदि के भी कारण हैं, ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, देवताओं के भी देवता हैं, ब्रह्मा के गुरुदेव हैं। इसमें **''सकारणं कारणाधिपाधिपः, तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्चदैवतम्''** इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं और ब्रह्मा, शिव, शक्ति, सूर्य, गणेशादि यत्किञ्चित् ऐश्वर्यशाली होने पर भी जन्य हैं तथा कर्माधीन हैं, अतः जीव विशेष होने से यह परंब्रह्म पदवाच्य नहीं हो सकते। इसमें **''एको ह वै नारायणासीन्न ब्रह्मा नेशानः नारायणात् ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रः अस्य देव मीढुषोदया विष्णोरेव प्रवृद्धेर्हविभिर्दिदिह''** इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। कहीं-कहीं पर ब्रह्मा से शिव की उत्पत्ति पाई जाती है, उसकी कल्पभेद से व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

प्रश्न – ब्रह्म पुराण में ब्रह्मा का, शिव पुराण में शिव का, लिंग पुराण में लिंग का, देवी पुराण में देवी का भी परत्व देखा जाता है, पुराण होने से वह भी माननीय है, तब तो जैसे श्रीकृष्ण परंब्रह्म हैं, वैसे ही ब्रह्मा, शिव, देवी आदि भी परंब्रह्म हैं?

उत्तर – हे वत्स ! उपर्युक्त पुराण होने पर भी राजस, तामस होने से संसार के कारण हैं, अतः दुर्बल हैं और सात्त्विक पुराणों से प्रतिपादित

भगवद्विषयक विशुद्ध ज्ञान मोक्ष का कारण है, अतः उसके प्रतिपादक सात्विक पुराण प्रबल हैं और सात्त्विक पुराणों से राजस और तामस पुराणों का बाध हो जाता है, अतः उन पुराणों में प्रतिपादित वस्तु परब्रह्म नहीं हो सकती है।

इसका भावार्थ यह है कि सात्त्विक, राजस, तामस और सङ्कीर्ण भेद से पुराण चार प्रकार के हैं और उपर्युक्त भेद से ब्रह्मा का कल्प भी चार प्रकार का है, अतः ब्रह्मा के जिस कल्प में, जिस पुराण का आविर्भाव हुआ, वह पुराण उसी नाम से कहा गया, जैसे विष्णु पुराण, पद्म पुराण, नरसिंह पुराण प्रभृति ब्रह्मा के सात्त्विक कल्प में कहे गये हैं, अतः उन-उन पुराणों में ज्ञान का विकाश पूर्ण रूप से हुआ है। क्योंकि सत्त्वगुण से ही तो ज्ञान होता है, सुतरां उपर्युक्त पुराण प्रबल हैं।

इनके अतिरिक्त अन्यान्य पुराण ब्रह्मा के राजस, तामस और सङ्कीर्ण कल्पों में कही गई है अतः उनमें ज्ञान का वास्तव स्वरूप नहीं प्रकट हुआ है, क्योंकि रजोगुण और तमोगुण शुद्ध ज्ञान के विरोधी हैं। सुतरां वे पुराण परतत्त्व के विपरीत शिव, देवी आदि को परत्व बताने वाली होने से परतत्त्व में सन्देह और विपरीत ज्ञान कराती हैं, अतः दुर्बल हैं। इसलिये मुमुक्षुजनों को अपने कल्याण के लिये राजस और तामस पुराणों को छोड़कर अनवरत सात्त्विक पुराणों का मनन करना चाहिये। इसमें **''सङ्कीर्णास्तामसाश्चैव राजसाः सात्विकाः स्मृताः। कल्पाश्चतुर्विधा प्रोक्ता ब्रह्मणो दिवसाश्च ये।। यस्मिन्कल्पे तु यत्प्रोक्तं पुराणं ब्रह्मणा पुरा। तस्य तस्य च माहात्म्यं तत्तत्कल्पे विधीयते।। अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्तितम्। राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।। सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते। सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।। या वेद-बह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। ताः सर्वा निष्फलाः प्रोक्ता तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः''** इत्यादि शास्त्रीय वाक्य प्रमाण हैं।

प्रश्न - यदि ऐसा है, तो सभी इसके अनुसार सात्त्विक पुराणों का मनन कर एक मात्र भगवान् श्रीकृष्ण का ही सेवन क्यों नहीं करते हैं ?

उत्तर - हे वत्स ! अपने-अपने पूर्वजन्मार्जित दुष्कर्मों की पराधीनता से सभी श्रीकृष्ण की उपासना करने में प्रवृत्त नहीं हो सकते। क्योंकि दुष्कर्मरूप अविद्या से उनका धर्मभूत ज्ञान एकदम आवृत्त हो गया है। अतः वे मूढ (अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्य) हैं और देव दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर श्रीभगवान् की आराधना न करने से वह नराधम हैं और आसुरी प्रकृति के हैं। यह श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है। यथा--

''**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययापहृत ज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।**'' अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है। इसलिये ऐसे ही जन श्रीकृष्ण की उपासना नहीं करते, किन्तु हजारों में जिसके कि तप, दान और समाधिप्रभृति साधनों से दुष्कर्मजनित सभी पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे किसी एक व्यक्ति की श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में भक्ति होती है और ऐसे व्यक्ति को उसके जन्म के समय ही श्रीमधुसूदन कृपापूर्वक अवलोकन करते हैं, तभी वह जन्म से ही सात्त्विक होकर मुक्ति का चिन्तन करता है और यदि जन्म के समय ब्रह्मा, शिवप्रभृति देवताओं की दृष्टि पड़ती है तो उसका मन रजोगुण, तमोगुण से व्याप्त होता है इसीलिये वह पुरुष अपनी प्रकृति (मन) के अनुसार ब्रह्मा, शिव आदि का सेवक बन जाता है। इसमें ''**जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः।। पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः। रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम्।। सात्त्विकैः सेव्यते विष्णु स्तामसैरेव शंकरः, राजसैः सेव्यते ब्रह्मा सङ्कीर्णैश्च सरस्वती**'' इत्यादि शास्त्रीय वचन प्रमाण हैं।

अतएव श्रीआद्याचार्यजी ने भी मुमुक्षुओं को उद्देश्य कर श्रीकृष्ण का ''**वरेण्यम्**'' यह विशेषण दिया है। अर्थात् मुमुक्षुजनों को पूर्वोक्त परंब्रह्म श्रीकृष्ण का अनन्य भाव से उपास्यरूप से वरण करना चाहिये। इस विषय में अथर्ववेदीय पिप्पलाद शाखा के ''मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः कः परमोदेवः कुतो मृत्युर्बिभेति। तस्मात्कृष्ण एव परोदेवस्तं ध्यायेत्'' इत्यादि वाक्य प्रमाण हैं।

प्रश्न - श्रीकृष्ण इस पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर - ध्यान करने वाले मुमुक्षुजनों के पापों और पुण्यों के आकर्षण (दूर) करने से आपका नाम श्रीकृष्ण है। अथवा जिनका आनन्द निरवच्छिन्न रूप से चिरस्थायी हो उनको श्रीकृष्ण कहते हैं।

व्याकरण के अनुसार तो डुकृञ् करणे और कृष विलेखने धातु से क्विप् प्रत्यय कर एकशेष करने पर 'कृष्' यह सिद्ध होता है, जिसका अर्थ कर्त्ता और संहर्त्ता होता है। ''**वस्तुलाभकरो णश्च**'' इस वचन के अनुसार ण् का अर्थ मोक्षलाभ कर, ''अव रक्षणे'' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर ''अ'' सिद्ध होता है, उसका अर्थ रक्षक है। इन सबका योग होने पर कृष्ण शब्द सिद्ध होता है, अतः उसका अर्थ जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करें तथा मोक्ष प्रदान करें, उनको श्रीकृष्ण कहते हैं। इस अर्थ की ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**'' इत्यादि श्रुत्युक्त ब्रह्मलक्षण के साथ एकवाक्यता होने से जाना जाता है कि परंब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं।

प्रश्न--वह परंब्रह्म श्रीकृष्ण साकार हैं या निराकार ?

उत्तर - हे वत्स ! इस सन्देह को दूर करने के लिये ही श्रीआचार्यपाद ने श्रीकृष्ण का ''कमलेक्षणम्'' यह विशेषण दिया है। अर्थात् जिनके नेत्र कमल के समान सुन्दर हैं। यहाँ पर ''ईक्षण'' पद श्रीकृष्ण के अन्यान्य अङ्गों के सौन्दर्य का उपलक्षण है, अर्थात् जिनका प्रत्येक अङ्ग अत्यन्त ही सुन्दर है। अथवा यह अर्थ ''**कमलया लक्ष्म्या ईक्ष्यते**'' इस विग्रह वाक्य से भी निकलता है कि सम्पूर्ण सौन्दर्यादि गुणशालिनी कमला (लक्ष्मी) भी जिनको अति सुन्दर होने से तथा स्वामी होने से पूज्य दृष्टि से देखती हैं। अतः परंब्रह्म श्रीकृष्ण साकार ही हैं।

अतएव आप हरि हैं अर्थात् ध्यान करने वालों के मन को हरण करने वाले हैं अथवा मुमुक्षुओं के पाप और पुण्य को हरण करने वाले हैं। अथवा महाप्रलय में जो पूर्वक ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, यम, वरुण आदि को तत्तत्पद से हटाने वाले हैं, अतः आप हरि हैं। ''**हरिर्हरति पापानि**'' **तथा ''ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रञ्च यमं वरुणमेव च। प्रसह्य हरते**

यस्मात्तस्माद्धरिरितीर्य्यते'' इत्यादि शास्त्रीय वाक्य प्रमाण हैं।

''ध्यायेम'' यह ध्यै चिन्तायाम् धातु का विधिलिङ् के उत्तम पुरुष के बहुवचन का रूप है। विधि अर्थक होने से विधिलिङ् के प्रथम पुरुष का प्रयोग करना यद्यपि उचित है, तथापि उत्तम पुरुष के प्रयोग करने का श्रीआचार्यपाद का तात्पर्य यह है कि ''जीव'' मुक्तावस्था में भी स्वभावतः स्वरूप से भिन्न है, अनन्त है, और भगवान् का स्वाभाविक दास है। अतः श्रीविष्णु के आयुध श्रीसुदर्शनस्वरूप होता हुआ भी, मैं उनका ध्यान करता हूँ, तब तुम बद्ध जीवों को तो अवश्य ही अनवरत उनका ध्यान करना चाहिये। इसी के ऊपर जोर देने के लिये प्रथम पुरुष का प्रयोग न कर, उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है।

यह उपदेश मन में रख, साम्प्रदायिक जनों को निरन्तर भगवद्ध्यान में ही निरत रहना चाहिये।

''**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'' इसी श्रुति को लक्ष्य में रख कर भगवान् वेदाचार्यजी ने ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' इस सूत्र का निर्माण किया है। यही सब पूर्वापर विचार कर श्रीआचार्यपाद ने भी ध्यान का ही विधान किया है।

प्रश्न – प्रयोजनयुक्त अर्थ के विधान करने से अर्थवान् शब्द को विधि कहते हैं। जैसे ''**स्वर्गकामो यजेत**'' इसमें स्वर्गरूप प्रयोजनशाली यज्धात्वर्थयोग का विधान करने से ''लिङ्'' प्रत्यय विधि है। यह विधि अपूर्वनियम और परिसंख्या भेद से तीन प्रकार की है।

प्रश्न – कृपा कर इन तीनों विधियों का लक्षण समझा दीजिये और ''ध्यायेम'' यह इन तीनों में कौन सी विधि है, यह भी बताइये।

उत्तर – अन्य किसी भी प्रमाण से अत्यन्त अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाली विधि को अपूर्व विधि कहते हैं। जैसे ''व्रीहीन् प्रोक्षति''यहाँ पर व्रीहि का प्रोक्षणरूप संस्कार अन्य किसी भी प्रमाण से प्राप्त नहीं, सुतरां उस प्रोक्षणरूप संस्कार को बतलाने वाली होने से उक्त विधि का नाम अपूर्व विधि है।

आक्षेपादि से प्राप्त वस्तु के अप्राप्त अंश को पूरण करने वाली

विधि को नियम विधि कहते हैं। जैसे ''**व्रीहीनवहन्ति**'' यहाँ पर विधि वाक्य न होने पर भी पुरोडाशीय द्रव्य होने से व्रीहि के तण्डुल करना, क्योंकि तण्डुल के बिना पुराडाश नहीं हो सकता। अतः अवहनन द्वारा व्रीहि का तण्डुल करना रूप-अर्थ आक्षेप से ही हो जाता है, सुतरां यह विधि अवहन रूप कार्य की बोधिका नहीं है, किन्तु आक्षेप सिद्ध तण्डुल निष्पत्तिरूप अर्थ नखविदलन से भी प्राप्त हो सकता है। अतः अवहनन की प्राप्ति नहीं रही, उसी को यह विधि प्राप्त कराती है। अर्थात् अवहनन से ही तण्डुल निष्पादन करो, किसी अन्य उपाय से नहीं। इसलिये यह नियम विधि है।

दो वस्तुओं की प्राप्ति होने पर एक की जो व्यावृत्ति करे, उसको परिसंख्या विधि कहते हैं, जैसे, ''**इमामगृभ्णन् रसनां ऋतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते**'' यहाँ पर अश्वरसना और गर्दभरसना ग्रहण की विधि है, सुतरां रसना ग्रहण कराने का बोधक होने से ''इमामगृभ्णन्'' यह मन्त्र गर्दभरसनाग्रहण की तरह अश्वरसनाग्रहण में भी प्राप्त होने से पिष्टपेषण के समान निरर्थक होने से व्यर्थ हो जायगा, और रसनाग्रहण का बोधक होने से गर्दभरसनाग्रहण में भी प्राप्त होगा। अतः पूर्वोक्त मन्त्र इसका निवर्तक होने से परिसंख्या विधि है। इस विधि में स्वार्थत्याग, परार्थ कल्पना, प्राप्त बाधरूप तीन दोष हैं। यहाँ पर अश्वरसनाग्रहण रूप स्वार्थ का त्याग है, गर्दभरसना ग्रहण का निषेधरूप परार्थ की कल्पना है। अश्व रसना ग्रहण प्राप्त का बाधक भी है। अतः दोषत्रय युक्त होने से यह विधि दुष्ट है। सम्पूर्ण वेदान्त वाक्य भगवान् के स्वरूप गुणादि का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा निश्चय कर वेदान्त प्रतिपाद्य ध्येयस्वरूप श्रीकृष्ण के स्वरूपादि का साक्षाद्दर्शन करने वाले श्रीआचार्य के मुखपद्म से विनिर्गत तदनुभूत वाक्यार्थग्रहण को श्रवण कहते हैं। आचार्योपदिष्ट अर्थ का अपने अनुभव में लाने के लिये शास्त्रानुकूल तर्कों द्वारा विचार करने का नाम मनन है। मनन के विषयस्वरूप अर्थ (श्रीकृष्ण) के दर्शन का कारण स्वरूप अनवरत ध्यान को निदिध्यासन कहते हैं। यह निदिध्यासन अन्य प्रमाणों से अत्यन्त अप्राप्त होने से तद्बोधक (ध्यायेम) यह भी अपूर्व विधि है।

उपर्युक्त **''द्रष्टव्य''** इत्यादि श्रुति में भी भगवान् के साक्षाद्दर्शन का अन्तरङ्ग कारण होने से निदिध्यासन ही विधेय है और श्रवण, मनन ध्यान की अपेक्षा बहिरङ्ग होने से परम्परया भगवत्साक्षात्कार के कारण हैं। अर्थात् श्रवण और मनन से ध्यान की पुष्टि और ध्यान से भगवत्साक्षा-त्कार और साक्षात्कार से भगवद्भावापत्तिरूप मुक्ति होती है।

हे वत्स ! यह श्रीआद्याचार्य का भगवत्स्वरूपबोधक श्लोक वेद माता गायत्री की व्याख्या स्वरूप भी जानना तथा गायत्री मन्त्र का अन्वय-**''यो नो धियः प्रचोदयात्, तत्सवितुर्देवस्य वरेण्यं भर्गो धीमहि''** इसमें **''कमलेक्षणम्''** पद से **''यो नो धियः प्रचोदयात्''** **इसकी व्याख्या की गई है। इसका अर्थ यः (सवितादेवः) नः (अस्माकम्) धियः (बुद्धि शब्दोपलक्षित सर्वाणीन्द्रियाणि) प्रचोदयात् (स्वस्व विषयेषु प्रेरयेत्)।**

''कमलेक्षणम्'' का अर्थ-कमले (हृत्कमले) योगिभिरी-क्ष्यते स कमलेक्षणस्तं अर्थात् सर्वधीनियन्तारम्।

अर्थात् जो सविता हमारी बुद्धि तथा इन्द्रियों को अन्तर्यामी रूप से प्रेरणा करते हैं।

''सवितुर्देवस्य'' की व्याख्या ब्रह्म पद से ही की गई है। ''वरेण्यम्'' की वरेण्यं पद से तथा ''भर्ग'' ध्यातॄणां कर्माणि शुभाशुभानि भर्जयन्तीरिति''भर्ग'' अर्थात् जो ध्यान करने वाले के शुभाशुभ सभी कर्मों को नाश करें, इसकी व्याख्या कृष्ण पद से तथा धीमहि की व्याख्या ध्यायेम पद से की गई है, सुतरां गायत्री मन्त्र का अर्थ भी परंब्रह्म श्रीकृष्ण ही है। अर्थात् जो जगत् के सृष्टिस्थितिलयकर्त्ता तथा मोक्षदाता हैं, सब के प्रकाशक, हमारी बुद्धि तथा इन्द्रियों के अन्तर्यामी रूप से प्रेरक हैं, उस सविता पद वाच्य परंब्रह्म श्रीकृष्ण के वरणीय सच्चिदानन्द स्वरूप का हम ध्यान करते हैं।

गायत्री मन्त्र में **''सूङ् प्राणि प्रसवे''** धातु से कर्त्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय करने पर सविता शब्द निष्पन्न होता है। उसके अर्थ का यदि सङ्कोच न किया जाय, तो समस्त जगत् के स्रष्टा आदिकर्त्ता परंब्रह्म श्रीकृष्ण का

ही वाचक होता है।

यद्यपि ''**योगाद्रूढिर्बलीयसी**'' इस नियम के अनुसार रूढि अर्थ बलवान् होने से सविता शब्द का अर्थ सूर्य होता है। तथापि ''अर्थ बाधे विपर्य्यय दर्शनात्'' इस नियम के अनुसार अर्थ का बाध होने पर विपरीत हो जाता है। अर्थात् रूढि अर्थ से यौगिक अर्थ ही प्रबल होता है। गायत्री में भी अन्तर्यामी रूप से बुद्धि तथा इन्द्रियों की प्रेरणा करना रूप अर्थ सूर्य में बाधित होने से रूढि अर्थ (सूर्य) की अपेक्षा यौगिकार्थ (परं ब्रह्म) ही बलवान् है। सूर्य भी भगवज्जन्य तथा भगवन्नियम्य हैं। अतः जीव विशेष ही है। सूर्य का जन्म और नियम्य होना वेदों में प्रसिद्ध है। यथा ''**चक्षोः सूर्य्योऽजायत, एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, भीषास्मात्वातः पवते भीषोदेतिसूर्यः**'' इत्यादि।

यदि गायत्री मन्त्र का अधिष्ठाता सूर्य को मानोगे, तो इन पूर्वोक्त श्रुतियों का बाध हो जायगा, क्योंकि पूर्वोक्त श्रुतियों में सूर्य को जन्य और परंब्रह्म को जनक, सूर्य को नियम्य और परंब्रह्म को नियामक कहा है। अतः गायत्री मन्त्र से प्रतिपाद्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति पुरुषोत्तम रमाकान्त श्रीकृष्ण ही हैं यही सिद्ध हुआ है।

प्रश्न – ''**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, निर्गुणं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्, यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः, यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को एक अद्वितीय, निर्गुण, निर्विशेष, ज्ञान का अविषय और मन के सहित वाणी से भी अगोचर बतलाती हैं। आप ब्रह्म को सगुण, सविशेष, वेदान्तजन्य ज्ञान का विषय बतलाते हैं, सुतरां आपके सिद्धान्त में पूर्वोक्त श्रुतियों का बाध होता है।

उत्तर – हे वत्स ! हमारे सिद्धान्त में किसी भी श्रुति का बाध नहीं है। उसी को बतलाता हूँ, सुनो ! ''**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'' जगत् का कारण एकमात्र ब्रह्म है। ब्रह्मा, शिवप्रभृति नाना देवता नहीं हैं। यही बताने

के लिये उक्त श्रुति में एक पद का प्रयोग है। एव शब्द भी दूसरे के योग का व्यावर्तक होने से उस ब्रह्म के सदृश कोई नहीं है, यह बतलाता है और ''**अद्वितीय**'' पद ब्रह्म पदवाच्य श्रीकृष्ण से कोई बड़ा नहीं, यह प्रतिपादन करता है। ''**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते**'' इत्यादि वाक्यों के साथ उक्त श्रुति का ऐक्य होने से उक्त श्रुति का हमारे सिद्धान्त से विरोध नहीं है, क्योंकि हमारा भी यही सिद्धान्त है।

''**नेह नानास्तिकिञ्चन**'' इस श्रुति का अर्थ भी इस प्रकार है। यथा **इह=जगत् कारणे। नाना=चतुर्मुखत्रिनयनादि भेदो नास्ति। कारणस्य=एकत्वावधारणात्।** अर्थात् इस जगत् के कारण में ब्रह्मा, शिव, आदि भेद नहीं हैं, क्योंकि पूर्व श्रुति में कारण के एक का निश्चय हो चुका है, सुतरां इस श्रुति के साथ भी विरोध नहीं है।

''**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**'' इस श्रुति का अर्थ भी इस प्रकार है-**यः=पुरुषः। इह=जगत्कारणे। नाना इव=ब्रह्मादि भेद इव। पश्यति। सः=पुरुषः। मृत्योः मृत्युम्=अनवरत जन्म मरण रूप संसार चक्रम्। आप्नोति।** अर्थात् जो पुरुष इस जगत् के कारण में अनेक ब्रह्मादि भी कारण हैं इनके समान भी जो देखता है, वह पुरुष बार-बार संसार-चक्र रूप जीवन-मरण को प्राप्त होता है। भगवान् के समान ब्रह्मादिकों को मानने वाले को तो श्रुति इस तरह कहती है। फिर जो ब्रह्मा, शिवादि को भगवान् मान कर उपासना करते हैं, उनको तो न मालूम कितनी बार जन्म लेना पड़ेगा।

इसी प्रकार ''**निर्गुणं निष्कलम्**'' इत्यादि श्रुति भी हेय प्राकृत गुणों का ही निषेध करती है। स्वाभाविक यावदात्मवृत्ति दिव्य कल्याण गुणों का निषेध नहीं करती है। यदि यह न मानकर सभी गुणों का निषेध मानो, तो ''**अस्थूलमनणु**'' इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्य ब्रह्म के स्वरूप का भी निषेध मानना पड़ेगा, क्योंकि स्वरूप भी स्वाभाविक है। अतः उक्त श्रुति का भी विरोध नहीं है।

एवं ''**यस्यामतम्**'' इत्यादि श्रुति का अर्थ भी इस प्रकार है- यथा **यस्य=पुंसः। परमेश्वरस्वरूपगुणादिविषयकेयत्तावच्छेदेन**

अमतम्=अनुमानादिभिरननुभूतम्। तस्यमतम्=तेन अपरिच्छिन्नत्वेन ज्ञातम्। यस्यमतं स्वरूपादि इयत्तावच्छेदेन ज्ञातम्। स न वेद परिच्छिन्नदर्शित्वात् न जानाति। अर्थात् जिस पुरुष ने भगवान् के स्वरूप और गुणादि को अनन्त और व्यापक समझा, उसी ने भगवान् के तत्त्व को जाना और जिसने भगवान् के स्वरूप, गुण, लीला, और धाम को परिमित रूप से ज्ञान किया, उसने भगवत्तत्त्व को नहीं जाना, क्योंकि वह परिच्छिन्नदर्शी हैं। यदि ऐसा न मान कर इस श्रुति से भगवान् को सर्वथा ज्ञान का अविषय मानोगे, तो ''**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय, य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति**'' इत्यादि श्रुतियों का बाध हो जायेगा। अतः उपरोक्त अर्थ ही ठीक है।

इसी प्रकार ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' इस श्रुति का भी यह अर्थ है कि सर्वेश्वर अचिन्त्य, अनन्त, कल्याण गुण राशि श्रीकृष्ण के आनन्दादि का अन्त न पाकर मन के सहित वाणी लौट आती है, क्योंकि भगवान् का आनन्द असीम है। मन, वाणी ब्रह्म के आनन्द को जानती ही नहीं, ऐसा मानने पर ''**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन, नमामः सर्व वचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**'' इत्यादि श्रुतियों का विरोध हो जायगा। अतः हमारे सम्प्रदाय में किसी भी श्रुति का कोई भी विरोध नहीं है, सुतरां उक्त स्वरूप वाले परंब्रह्म श्रीकृष्ण वेद माता गायत्री द्वारा प्रतिपादित होने से सर्व वेदान्त के विषय हैं, यही साधीयान् पक्ष है।

प्रश्न - तो क्या निर्विशेष मानने वालों का मत ठीक नहीं है ?

उत्तर - हाँ वत्स ! जिस वस्तु में कोई प्रमाण ही नहीं है, उस वस्तु की सत्ता भी शशशृङ्ग के समान है।

प्रश्न - प्रमाण किसको कहते हैं और वह कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर - वस्तु का जिससे यथार्थ अनुभव हो, उसको प्रमाण कहते हैं। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द भेद से तीन प्रकार का है।

प्रश्न - प्रत्यक्ष प्रमाण का क्या लक्षण है और वह कितने प्रकार का है?

उत्तर – विषय और इन्द्रिय के संयोग से जिसका ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वह संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेष्यविशेषणभाव भेद से छै प्रकार का है। इनके उदाहरण तर्कसंग्रहादिक ग्रन्थों में देख लेना।

प्रश्न – अनुमान प्रमाण का क्या लक्षण है ?

उत्तर – व्याप्ति ज्ञान से जिसका ज्ञान हो उसे अनुमति कहते हैं। उसका जो करण हो, उसे अनुमान कहते हैं। जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अग्नि रहती है, इसी को व्याप्ति ज्ञान कहते हैं और इस ज्ञान से होने वाले **''पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्''** इस ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। यह ज्ञान जिससे हो, उसे अनुमान कहते हैं।

प्रश्न – शब्द प्रमाण का क्या लक्षण है ?

उत्तर – भ्रम उत्पन्न करने वाली बुद्धि की मलीनता इन्द्रियासमर्थता प्रभृति दोष जिसमें न हो एवं यथार्थ वक्ता हो, उसे आप्त तथा उसके वाक्य को शब्द प्रमाण कहते हैं। आप्ततम, आप्ततर और आप्त भेद से आप्त तीन प्रकार के होने से शब्द प्रमाण भी प्रमाणतम, प्रमाणतर, और प्रमाण भेद से तीन प्रकार का है। भगवद्वाक्य होने से वेद आप्ततम और उसका शब्द प्रमाणतम है। वेद के अर्थ को स्मरण करने वाले मनु प्रभृति आप्ततर तथा उनके वाक्य प्रमाणतर, श्रुति और स्मृति के अर्थ की व्याख्या करने वाले और भगवत्तत्त्व के साक्षात् द्रष्टा आप्त तथा उनके वाक्य प्रमाण हैं।

इन तीनों प्रमाणों में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण किसी किसी स्थल पर मिथ्या हो जाते हैं, किन्तु शब्द प्रमाण किसी स्थल पर भी मिथ्या नहीं हो सकता। अब देखो ! अतीन्द्रिय होने से निर्विशेष ब्रह्म में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। एवं किसी भी धर्म तथा गुण के न होने से निर्विशेष ब्रह्म में शब्द प्रमाण भी नहीं है। अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म किसी भी शब्द वृत्ति का विषय नहीं है।

प्रश्न – शब्द की वृत्ति किसे कहते हैं और वह कितनी प्रकार की है ?

उत्तर – शब्द शक्ति का नाम ही शब्द की वृति है। वह मुख्या

और गौणी भेद से दो प्रकार की है। इस पद से यह अर्थ जानना इस ईश्वर की इच्छा रूप वस्तु के सङ्केत को शक्ति कहते हैं, यह नैयायिकों का मत है।

अर्थ के ज्ञान का जनक, पद और अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं, यह मीमांसकों का मत है।

तत्तच्छब्द से तत्तदर्थ के प्रकाश करने की योग्यता को शक्ति कहते हैं, यह वैयाकरणों का मत है।

किन्तु पूर्वोक्त सभी मतों का सारांश यह है कि, शब्द के आश्रित हो, तथा शब्द के अर्थ प्रकाशन की योग्यता जिसमें हो, उसको शक्ति कहते हैं। वह रूढि, योग और योगरूढि भेद से तीन प्रकार की है।

प्रश्न - इन तीनों के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - प्रकृति और प्रत्यय के बिना समुदित पद के अर्थ को रूढि कहते हैं। जैसे नारद, ब्रह्मा, शिव इत्यादि।

प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ को लेकर जिस पद का अर्थ हो, उसे योग कहते हैं। जैसे माधव, शौरि, वासुदेव इत्यादि।

यहाँ पर 'मा' माने लक्ष्मी और 'धव' माने स्वामी युक्त माधव माने लक्ष्मी-पति। शब्द समुदाय और शब्द के अवयव इन दोनों को लेकर जहाँ पर पद का अर्थ किया जाय, उसको योगरूढि कहते हैं। यथा पङ्कजादि।

इसमें योगरूपा शक्ति लक्षणा और गौणी भेद से दो प्रकार की है।

प्रश्न - लक्षणा किसको कहते हैं और वह कितनी प्रकार की है ?

उत्तर - वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ बोधक शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं। वह जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था और जहदजहत्स्वार्था भेद से तीन प्रकार की है।

प्रश्न - इन तीनों के लक्षण उदाहरण देकर समझा दीजिये।

उत्तर - जो पद अपने मुख्य अर्थ को एक दम छोड़कर अपने से सम्बन्ध रखने वाले अन्य अर्थ का बोधक हो, उसे जहत्स्वार्था लक्षणा

कहते हैं। जैसे ''**गङ्गायांघोषः**'' यहाँ पर गङ्गा शब्द का मुख्य अर्थ प्रवाह है, उसमें घोष का रहना अनुपपन्न है। अतः गङ्गा शब्द अपने मुख्यार्थ प्रवाह को छोड़ कर स्वसम्बन्धी तीर का बोधक है, क्योंकि गङ्गा और तीर का सामीप्य सम्बन्ध है। अतः गङ्गा पद में जहत्स्वार्था लक्षणा की गई है।

जो अपने अर्थ को भी न छोड़े और दूसरे अर्थ को भी बतावे, उसको अजहत्स्वार्था लक्षणा कहते हैं। जैसे ''**काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्**'' यहाँ पर काक शब्द अपना (काक) भी बोधक है और दधि को नष्ट करने वाले मार्जारादि (बिल्ली आदि) का भी बोधक है। अतः यहाँ अजहत्स्वार्था लक्षणा है। शक्यार्थ के किञ्चिदंश को छोड़े और किञ्चिदंश को ग्रहण करे, उसको जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा ''**सोऽयं देवदत्तः**'' यहाँ पर ''**सः**'' पद अन्य देश और अन्य काल का वाचक है और ''**अयं**'' पद इस देश और वर्तमान काल का बोधक है। विभिन्न देश और विभिन्न काल का परस्पर में अन्वय न होने से देश और काल को छोड़ कर ''**सः**'' और ''**अयम्**'' पद केवल देवदत्त के पिण्ड मात्र का बोधक है, अतः यह जहदजहत्स्वार्था लक्षणा का लक्ष्य है।

प्रश्न – गौणी लक्षणा किसको कहते हैं ?

उत्तर – शक्य में रहने वाले गुण का सम्बन्ध जिससे जाना जाय, उसको गौणी लक्षणा कहते हैं। यथा ''**अग्निरयं माणवकः**'' यहाँ पर ब्रह्मचारी को अग्नि कहा गया है, वास्तव में अग्नि तो ब्रह्मचारी नहीं है, किन्तु अग्नि के समान तेजस्वी है। इसी अग्नि वृत्ति तेजस्विता गुण को लेकर ब्रह्मचारी को अग्नि कहा है। अतः यह गौणी लक्षणा का उदाहरण है।

अब देखिये उस तुम्हारे निर्गुण, निर्विशेष, निराकार ब्रह्म में रूढि शक्ति के शब्द भी प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि रूढि के द्वारा जिसका ज्ञान होता है, उसमें कोई न कोई जाति, गुण, धर्म प्रभृति अवश्य रहता है, किन्तु उस निर्विशेष ब्रह्म में उपरोक्त कुछ भी नहीं है। अतः रूढि शब्द उपरोक्त ब्रह्म में प्रमाण नहीं है।

प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ रूप, धर्म के न रहने से उस निर्धर्मिक ब्रह्म में योग शब्द भी प्रमाण नहीं है और इसीलिये योग रूढि भी प्रमाण नहीं है। ''**असम्बन्धोऽयं पुरुषः**'' के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म में किसी पद का सम्बन्ध न होने से उक्त ब्रह्म में गौणी लक्षणा भी प्रमाण नहीं है। अतः सर्व प्रमाण शून्य होने से निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म आकाश कुशुमवत् है। सुतरां मुमुक्षुओं को निर्विशेष ब्रह्म अनादरणीय हैं। किन्तु सर्वज्ञ, सर्व शक्ति, सर्व वेदान्त वेद्यः, विश्वरूप, कार्य के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण परंब्रह्म श्रीकृष्ण ही एक मात्र ध्येय हैं।

प्रश्न - एक ही वस्तु निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी है, यह तो किसी शास्त्र में कभी नहीं सुना है ?

उत्तर - हे वत्स ! न्याय शास्त्र पढने से तुम शीघ्र समझ सकोगे कि एक ही वस्तु निमित्त और उपादान कारण हो सकती है। जैसे ''घटेश्वर संयोग रूप कार्य के प्रति ईश्वर उपादान (समवायी) और निमित्त उभय विध कारण ही है। क्योंकि संयोग गुण है वह ईश्वर में समवाय सम्बन्ध से रह कर उसी में उत्पन्न होता है और उस संयोग के उत्पादक भी ईश्वर ही हैं। जैसे जीवगत ज्ञान के प्रति जीव उपादान और निमित्त उभय विध ही कारण है, क्योंकि ज्ञान गुण होने से जीव में समवाय सम्बन्ध से रहकर उसमें उत्पन्न होता है और उसका निमित्त कारण भी जीव ही है। वैसे ही चिदचिन्मिश्रित जगत् रूप कार्य के प्रति ब्रह्म भी अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, क्योंकि चित् और अचित् ब्रह्म की शक्ति होने से समवाय सम्बन्ध से ब्रह्म में रहकर उसमें विकास को प्राप्त होती है और उसके विकास करने वाले भी ब्रह्म ही है, अतः ब्रह्म जगत् रूप कार्य का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, यह सिद्ध हो गया।

प्रश्न - यह जगत् रूप कार्य सङ्घात स्वरूप है ? या आरब्ध स्वरूप है ? अथवा ब्रह्म का परिणाम है ? वेद विरुद्ध होने से जगत् का सङ्घात किंवा आरब्ध स्वरूप नहीं मान सकते और ब्रह्म व्यापक तथा निरवयव है, अतः जगत् को ब्रह्म का परिणाम भी नहीं मान सकते, सुतरां यही मानना होगा कि, जगत् ब्रह्म में विवर्त (आरोपित) है।

उत्तर - व्यापक और निरवयव होने पर भी अपने परिणमनशील शक्ति के प्रभाव से ब्रह्म जगत् रूप से परिणमित हो सकता है।

प्रश्न - भगवन् ! परिणाम तो सावयव द्रव्य का ही होता है निरवयव का नहीं।

उत्तर - हे शिष्य ! ऐसा मानने पर क्षीर के परमाणु में व्यभिचार होगा। क्योंकि क्षीर के परमाणु निरवयव होने पर भी द्व्यणुकादि रूप में परिणत होते हैं। सुतरां सावयव होने पर ही वस्तु का परिणाम होता है यह व्याप्ति नहीं है। किन्तु जिस में परिणाम होने की शक्ति है उसी का परिणाम होता है। यही व्याप्ति है। यदि इस व्याप्ति को न मान कर पूर्वोक्त व्याप्ति को ही प्रमाण मानो तो सावयव होने से जल का दधि के रूप में परिणाम होना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि जो सावयव वस्तु का ही परिणाम मानते हैं उनसे पूछना चाहिये कि परिणाम में अवयवीगत शक्ति कारण है या अवयवगत ?

यदि कहो कि अवयवीगत शक्ति कारण है तब तो मृत्तिका भी घटशरावादि रूप से परिणत नहीं हो सकती। क्योंकि उनके मत में द्रव को छोड़ कर और कोई भी वस्तु सावयव नहीं है।

यदि कहो कि अवयवगत शक्ति कारण है तो बताइये कि क्षीर के अवयव सावयव है या निरवयव ?

यदि सावयव मानोगे तो अनवस्था दोष होता है अतः इच्छा न होने पर भी तुमको क्षीर के अवयव भी निरवयव मानने पड़ेंगे यदि निरवयव मान लिया तो पूर्वोक्त व्यभिचार दोष होने से निरवयवत्व हेतु दुष्ट हो गया अतः सावयव का ही परिणाम होता है यह नियम भङ्ग हो गया।

''व्यापक ब्रह्म है अतः परिणाम नहीं होता है'' यह नियम भी दूषित है। क्योंकि व्यापक आकाश वायु के रूप में परिणत होता है यह **''आकाशात् वायुः''** इस श्रुति से पाया जाता है अतः व्यापकत्व हेतु भी सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित तथा दृष्टान्त शून्य है। सुतरां सिद्ध हो गया कि व्यापक और निरवयव ब्रह्म का परिणामस्वरूप यह जगत्रूप कार्य है।

प्रश्न - यदि तादृश शक्तिशाली होने से व्यापक और निरवयव ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करोगे, तो उक्त ब्रह्म को विकारी मानना यह वेद विरुद्ध होने से आस्तिकों को अग्राह्य है।

इसका तात्पर्य यह है कि व्यापक समस्त ब्रह्म ही कार्यरूप से परिणत होता है ? या उसका एक देश ?

यदि समस्त ब्रह्म कार्यरूप से परिणत होता है यह मानो तो मुक्त जीव किसको प्राप्त होंगे। और परिणामी होने से ब्रह्म अनित्य भी हो जायगा। यदि एक देश का परिणाम मानो, तब तो अनित्यता स्पष्ट ही प्रतीत होती है और ''**निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्**'' इत्यादि श्रुतियों का विषय भी व्याकोप हो जाता है । सुतरां परिणाम पक्ष स्वीकार करना अयुक्त है।

उत्तर - हे वत्स ! तुम्हारा यह प्रश्न शास्त्र दृष्टिशून्य है क्योंकि व्यापक और निरवयव आकाश, वायु रूप से परिणत होने पर भी शास्त्रों में अनित्य (विकारी) नहीं देखा गया है उसी तरह ब्रह्म जगत्रूप में परिणत होने पर भी तादृश शक्तिशाली होने से विकाररहित तथा नित्य बना रहता है। वस्तुतस्तु ''**आत्मकृतेःपरिणामात्**'' इत्यादि सूत्रों में ''**परिणाम**'' शब्द शक्ति के विक्षेप का वाचक कहा गया है सुतरां ब्रह्म के स्वरूप में किसी प्रकार का विकार न होने से उक्त दोष का लेश मात्र स्पर्श भी हमारे सिद्धान्त में नहीं है।

प्रश्न - परिणाम शब्द शक्ति के विक्षेप का वाचक है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर - ''**प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ**'' अर्थात् सर्ग काल उपस्थित होने पर श्रीहरि ने अपनी इच्छा से प्रधान (प्रकृति) और पुरुष (जीव) में प्रवेश कर व्यय (प्रकृति) और अव्यय (जीव) को क्षुभित किया था। यहाँ पर क्षोभ शब्द विक्षेप का पर्याय वाचक है और व्यय तथा अव्यय शब्द अचित् और चित् शक्ति के पर्याय हैं, सुतरां शक्ति विक्षेप का वाचक परिणाम शब्द है, इसमें यह शास्त्र ही प्रमाण है, क्योंकि इसी शास्त्र के

अभिप्राय को लेकर श्रीवेदाचार्यजी ने ''**आत्मकृतेःपरिणामात्**'' इस सूत्र में परिणाम शब्द का उच्चारण किया है और भाष्यकारों ने परिणाम का अर्थ शक्ति विक्षेप किया है अतः सूत्र और भाष्य भी इसमें प्रमाण हैं। ''**प्रसार्य्य च यथाङ्गानि कूर्म संहरते पुनः। तद्वद्भूतानि भूतात्मा सृष्टानि ग्रसते पुनः**'' इत्यादि वाक्यों से श्रीभीष्म तो स्पष्ट ही ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कह रहे हैं, सुतरां ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, यह सिद्ध हो गया।

प्रश्न – उपादान और निमित्त कारण का लक्षण क्या है ?

उत्तर – सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हुए अपनी स्वाभाविकी चित् और अचित् शक्तिस्वरूप चेतन और अचेतन को स्थूल रूप से जो प्रकट करे, उसको उपादान कारण कहते हैं।

अपने-अपने अनादि कर्मों के संस्कार के वश अत्यन्त सङ्कुचित, सुतरां स्मृति के भी अयोग्य ज्ञानशाली चेतन के हृदय में स्वस्व कर्मानुकूल तत्तत्फल भोगने के योग्य ज्ञान को प्रकाश कर उन-उन कर्मफलों के साथ, तथा उनके भोग कराने योग्य साधनों के साथ जीव को संयोग कराने वाले को निमित्त कारण कहते हैं। इन दोनों विधिकारणों का आश्रय होने से ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कहते हैं।

उक्त कारणता ब्रह्म की स्वरूपगत ही है, क्योंकि ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**'' इत्यादि श्रुति से ब्रह्म के स्वरूप का ही लक्षण किया गया है, यह जानना।

प्रश्न – यदि ''**यतो वा इमानि**'' इत्यादि श्रुति से ही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण हो गया, तो ''**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'' इस श्रुति से द्वितीय लक्षण करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर – कारणता कार्य के सापेक्ष है, अर्थात् कार्य के बिना कारण का निरूपण नहीं हो सकता। और ''**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'' इसमें किसी की अपेक्षा नहीं है। अतः दूसरा लक्षण किया गया है, जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, तुम्हारा यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

प्रश्न - ''तदेवर्त्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्'' इस श्रुति में (तत्+एव+ऋतम्) एवकार अन्य योग का व्यावर्त्तक है अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, सुतरां जगत् असत्य है, यह एवकार से जाना जाता है। यह श्रुति ही जगत् के विवर्त्त (आरोप) में प्रमाण है।

उत्तर - हे वत्स ! एक जगह सत् वस्तु का ही, दूसरी जगह आरोप देखा जाता है, स्वरूपतः असत् वस्तु का आरोप नहीं होगा। जगत् असत्य है, अतः उसका आरोप नहीं हो सकता, अन्यथा शशश्रृङ्ग-गगन कुसुम का भी आरोप होना चाहिये।

प्रश्न - आरोप में तद्विषयक प्रतीति ही कारण है। वस्तु की सत्ता कारण नहीं है। शशश्रृङ्ग और गगनकुसुम की प्रतीति नहीं होती। अतः उसका आरोप नहीं होगा। जगत् की प्रतीति होती है, अतः उसका आरोप होगा।

उत्तर - हे वत्स ! जिसकी सत्ता ही नहीं, उसकी प्रतीति भी नहीं होती है।

प्रश्न - प्रतीति में दोष कारण है, वस्तु की सत्ता तो कारण नहीं है। जैसे रज्जु में सर्प की सत्ता नहीं, फिर भी दोष से उसमें सर्प की प्रतीति होती है।

उत्तर - हे वत्स ! विवर्त्तवाद मानने वाले के मत में ब्रह्म के बिना सभी असत् है, अतः दोष भी असत् है, क्योंकि वह तो ब्रह्मस्वरूप नहीं है, सुतरां उस दोष से जगत् की प्रतीति रूप कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य अपने अव्यवहित पूर्व में नियमतः कारण की सत्ता की अपेक्षा करता है।

प्रश्न - रज्जु में सर्प की सत्ता न होने पर भी भयरूप कार्य होता है, अतः कार्य के अव्यवहित पूर्व में कारण की सत्ता अवश्य ही होनी चाहिये, यह व्याप्ति भङ्ग हो गई।

उत्तर - हे वत्स ! भ्रमस्थल में सर्प विषयक ज्ञान जिसको है, उसी को भय होता है, बालक को सर्प का ज्ञान नहीं है, अतः वह सत्य सर्प से भी भय नहीं खाता, सुतरां ज्ञानरूप कारण पूर्व में विद्यमान है और सत् है

अतः व्याप्ति भङ्ग नहीं होती है।

प्रश्न - जैसे असद्भूत, रज्जु के सर्प से सत् सर्प का ज्ञान होता है, वैसे ही असत् सर्प से भय भी हो सकता है ?

उत्तर - भ्रमस्थल में दोष (अन्धकार में सर्प के समान पड़ी हुई रज्जु) से ही सर्प का ज्ञान होता है, वह रज्जु तो सत् है, असत्सर्प से सर्प विषयक ज्ञान नहीं होता है।

प्रश्न - इस समय असत् होने पर भी जैसे अतीत और अनागत वृष्टि का ज्ञान होता है, वैसे ही असत् सर्प से भी सर्प का ज्ञान हो सकता है?

उत्तर - अतीत वृष्टि का ज्ञान, उसका कार्य स्वरूप सत् अन्न के देखने से, तथा अनागत वृष्टि का ज्ञान सत्स्वरूप ज्योतिः शास्त्र से होता है। असत् वस्तु कहीं भी किसी का कारण नहीं है, अतः सिद्ध हो गया, असत् होने से जगत् का आरोप नहीं हो सका, सुतरां विवर्तवाद सर्वथा अप्रामाणिक है।

प्रश्न - **''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्त्यम्''** अर्थात् मृत्तिका के विकार घट शरावादि वाणी के उच्चारण मात्र से भिन्न है वास्तव में मृत्तिका ही सत्य है। यह श्रुति ही विवर्त्तवाद में प्रमाण है। आप अप्रामाणिक कैसे कहते हैं।

उत्तर - **''विकारो नामधेयम्''** यहाँ पर विकार शब्द का पाठ है, और विकार परिणामी द्रव्य में ही देखा जाता है। अतः यह श्रुति भी विवर्तवाद में प्रमाण नहीं है।

किञ्च - यदि वेद भगवान् को विवर्त्तवाद स्वीकार होता तो **''वाचारम्भणं भ्रान्तिर्नामधेयम्''** ऐसा उच्चारण करते। एवं तुम्हारे अभिमत विवर्त के दृष्टान्तभूत रज्जु सर्प, शुक्ति, रजत आदि का किसी भी श्रुति में उच्चारण नहीं है अतः विवर्त्तवाद वेद अभिमत नहीं है।

किञ्च - विवर्त्तवाद मानने से प्रतिज्ञा का बाध भी होजाता है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में **''उत तमादेशमप्राक्ष्मो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं कथं नु भगवः स आदेशो भवति''** अर्थात्

उत=हे। **भगवः**=भगवन्। **तम्**=उस। **आदेशम्**=वस्तु को। **अप्राक्ष्मः**-पूछता हूँ। **येन**=जिस वस्तुसे। **अश्रुतम्**=नहीं सुनी हूई वस्तु भी। **श्रुतम्**=सुनी हुई। **भवति**=होती है। **अमतम्**=नहीं मानी हुई वस्तु भी। **मतम्**=मानी हुई। **अविज्ञातम्**=नहीं जानी हुई वस्तु भी। **विज्ञातम्**=जानी हुई हो जाय। **स आदेशः**=वह वस्तु। **कथम्**=कैसी। **भवति**=है। ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया है कि ''**यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वमृन्मयं विज्ञातंस्यात्**'' अर्थात् हे सौम्य। **यथा**=जिस प्रकार। **एकेन मृत्पिण्डेन**=एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से। सर्व-मृन्मयम्=सभी मृन्मय घट शरावादिकों का। **विज्ञातं स्यात्**=ज्ञान हो जाता है। इस उत्तर से यही प्रतिपादित किया गया है कि कारण के ज्ञान से ही कार्य का ज्ञान होता है। जैसे घट शरावादिके कारण स्वरूप मृत्तिका के ज्ञानसे सभी मृन्मय घट शरावादिकों का ज्ञान हो जाता है, वैसे रज्जु के ज्ञान से सर्प का, तथा शुक्ति के ज्ञान से रजत ज्ञान नहीं होता अतः प्रतिज्ञा की हानि हो गई। सुतरां जगत् सत् ब्रह्म का कार्य होने से सत्स्वरूप है यही वैदिकों का सुनिश्चित सत्य सिद्धान्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण अविद्यादि दोषों से रहित, अनन्त अचिन्त्य स्वाभाविक कल्याणगुणगणनिधि, सर्व शास्त्रवेद्य, सर्वोपास्य जगत् के सृष्टि आदि के कर्त्ता, मोक्षप्रदाता, मुक्तों के भी उपासनीय परंब्रह्म श्रीकृष्ण तत्त्व का निरूपण कर उनके अहर्निश पार्श्व में रहने वाली ''**श्रीश्चते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे**'' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित श्रीदेवी (रुक्मिणी) भूदेवी (सत्यभामा) और लीलादेवी (श्रीराधिका) का स्मरण करने की आज्ञा श्री आद्याचार्यजी ने निम्न प्रकार से की है। यथा-

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।५।।

अन्वय- (वयम्) वामे, अङ्गे (अर्थात् अघटघटनापटुतरानन्ताचिन्त्यविचित्रशक्तिमतो भगवतः श्रीकृष्णस्य इतिशेषः) अनुरूपसौभगाम्, सखीसहस्रैः, परिसेविताम्, सकलेष्टकामदाम्, देवीम् (श्रीरुक्मिणीम्) मुदा विराजमानाम्, वृषभानुजाम् (श्रीराधिकाम्) तु शब्द बोधिताम् सत्यभामाञ्च, स्मरेम।।

समास-सुभगस्य भावः सौभगम्, अनुरूपम्=श्रीकृष्ण सदृशम् सौभगम्=शोभनं षडैश्वर्य्यादि यस्याः सा ताम्। सखीनां स्वपरिचारिकाणां सहस्रैरपरिमितैः। सर्वेभ्यो भक्तेभ्यः सकलेष्टं पुरुषार्थचतुष्टयं ददाति इति सकलेष्टकामदा ताम्। वृषभानोर्जाता वृषभानुजा ताम्।

सु० टी०-हम अनन्त, अचिन्त्य, शक्तिमान् परंब्रह्म श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में रुक्मिणी, सत्यभामा तथा श्रीराधिका इन तीनों देवियों का स्मरण करते हैं। क्योंकि इनका भगवान् से नित्य सम्बन्ध है एवं भगवान् के अनुरूप ही यह भी अपने विग्रह को प्रकट करती हैं।

श्रीरुक्मिणी के आनुरूप्य का वर्णन श्रीपराशर ने इस प्रकार किया है ''**देवत्वे देवदेहेयं मानुषत्वे च मानुषीम्-विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्।। राघवत्वे भवेत् सीता रुक्मिणी कृष्ण-जन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषाऽनपायिनी।।**'' अर्थात् जब आप देवविग्रह धारण करते हैं तब लक्ष्मी देवीस्वरूपा होती हैं। और जब मनुष्य विग्रह ग्रहण करते हैं तब लक्ष्मी भी मानुषी विग्रह को ग्रहण करती हैं। विष्णु के देह के अनुरूप यह भी अपने देह को धारण करती हैं।

श्रीरामावतार में श्रीजनकनन्दिनी, कृष्णावतार में श्रीरुक्मिणी, तथा अन्यान्य अवतारों में भी तत्सदृशविग्रह धारण करती हैं। सुतरां श्रीविष्णुपद वाच्य श्रीकृष्ण से लक्ष्मी पदवाच्या श्रीरुक्मिणी का नित्य सम्बन्ध है। श्रीरुक्मिणी अपरिमित सखियों से निरन्तर सेविता हैं तथा आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी इन चतुर्विध भक्तों के समस्त अभिलषित पदार्थों को भक्तों की इच्छानुसार देने वाली हैं। इसमें ''**यज्ञविद्या महाविद्या गुहाविद्या च शोभने। आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी**'' इत्यादि शास्त्रीय वचन प्रमाण है।

प्रश्न – रुक्मिणी को देवी क्यों कहते हैं ?

गायत्री मन्त्र प्रतिपाद्य श्रीवासुदेव की पत्नी होने से आपको देवी कहते हैं।

प्रश्न – श्रीराधिका का आनुरूप्य बतलाइये ?

उत्तर – श्रीभगवान् के वामाङ्ग में श्रीवृषभानुजा श्रीराधिकाजी का स्मरण करने से श्रीआद्याचार्यजी ने श्रीराधिकाजी को भी श्रीलक्ष्मी के समान बतलाया है और यह भी श्रीदेव की पत्नी तथा अनुयायिनी हैं यह सूचन किया है सुतरां उक्त प्रमाण ही इनके आनुरूप्य के बोधक हैं। और **''मुदा विराजमानाम्''** यहाँ पर **''मुदा''** शब्द से श्रीराधिकाजी को प्रेम की अधिष्ठात्री बताया है।

''विराजते'' विशेषेण स्वरूपेण विग्रहेण प्रेमकारुण्यादि-गुणैश्च राजते ताम्। अर्थात् स्वरूप, विग्रह तथा प्रेम कारुण्यादि दिव्य कल्याणगुणों से श्रीवृषभानुजा श्रीराधिकाजी सदा सुशोभित हैं।

ऋक् परिशिष्ट श्रुति में लिखा है--**''राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका विराजते''** अर्थात् राधा से माधव और माधव से राधा विराजित हैं। इस श्रुति में **''राधया'' ''माधवेन''** यहाँ पर सहयोग में तृतीया होने से दोनों का नित्य सम्बन्ध तथा प्रेमातिशय बताया गया है। इसी प्रकार ''श्रीसत्यभामा का भी श्रीकृष्ण के साथ नित्य सम्बन्ध है, यह हरिवंश पुराण की भगवदुक्ति से ही प्रकट होता है। यथा--

''क्षमादयश्च मेदिन्याः शब्दाद्याश्च यथा गुणः। ध्रुवा पङ्कज गर्भाभे त्वयि स्नेहस्तथा मम। रुचिरग्नौ यथा दिव्या प्रभा चैव दिवाकरे। कान्तिश्च शाश्वती चन्द्रे त्वयि प्रीतिस्तथा मम'' अर्थात् जैसे पृथ्वी के क्षणादि गुण हैं, आकाश के शब्द जैसा गुण है, हे पङ्कज गर्भवत् सौन्द्रर्य्यशालिनि ! तुम्हारे से हमारा स्नेह भी वैसा ही है। जैसे अग्नि में कान्ति का, सूर्य में दिव्य प्रभा का, चन्द्र में शाश्वती चन्द्रिका का नित्य सम्बन्ध है, वैसे तुम में मेरा स्नेह है।

यद्यपि उक्त श्लोक में ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री होने से लक्ष्मी का ही पूर्व प्रयोग करना उचित था तथापि ''वृषभानुजाम्'' इस पद का पूर्व प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि श्रीराधिका ही प्रेम की अधिष्ठात्री देवी हैं। अतः उनके चरण के स्मरण से श्रीकृष्ण में अनवच्छिन्न प्रेम की प्राप्ति होती है, अतः **''वृषभानुजाम्''** इस पद का ही आचार्यपाद ने पूर्व

प्रयोग किया है।

अतएव श्रीआद्याचार्य के वचनानुसार रूक्मिणी, सत्यभामा तथा श्रीराधिका के सहित भगवान् पुरुषोत्तम श्रीवासुदेव ही साम्प्रदायिकों को सदा उपासनीय हैं।

द्विभुज, चतुर्भुज मानना अपनी रुचि के अनुसार है, उनमें तारतम्य नहीं है। भगवान् के विग्रह में ध्यान करने वाले की भावना ही नियामक है अर्थात् ध्यान करने वाले की भावनानुसार ही श्री भक्तवत्सल भगवान् अपने विग्रह को प्रकट करते हैं।

इति श्रीलाड़िलीशरण ब्रह्मचारी विरचिता 'नियन्तातत्त्वस्य'
सुबोधिनी टीका समाप्ता ।

इसी सम्प्रदाय की अनादिता वर्णन करते हुए श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं--

उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तम् श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे।।६।।

अन्वय-जनैः, सदाः, नितरां, अज्ञानतमोऽनुवृत्तेः, प्रहाणये (उक्त ब्रह्म) उपासनीयम्, अखिलतत्त्वसाक्षिणे, श्रीनारदाय, सनन्दनाद्यैर्मुनिभिः, तथोक्तम्।।

समास-उपासितुं योग्यम् उपासनीयम्। अनादि कर्माख्यमज्ञानमेव तमः तस्यानुवृत्तिः सम्बन्धः तस्य प्रहाणये ध्वंसाय। मन्तारो वेदशास्त्रार्थावगन्तारो मुनयस्तैः मुनिभिः। नरस्य सम्बन्धी नारोऽज्ञानं तद्द्यति खण्डयतीति नारदः। अथवा नारं ज्ञानं ददातीति नारदः। अथवा नरस्य भगवत इदं नारं भगवत्स्वरूपगुणादि विषयकं ज्ञानम् तद्ददाति इति नारदः। अथवा नरस्य प्रपन्नस्य सम्बन्धि नारं प्रपन्नहृदयं प्रददौ प्रकर्षेण शोधितवान् इति नारदस्तस्मै। अखिलानां तत्त्वानां साक्षी प्रत्यक्षद्रष्टा तस्मै।

सुबोधिनी टीका

मुमुक्षु जनों को पूर्व कथित त्रिदेवी विशिष्ट परंब्रह्म श्रीकृष्ण की सदा उपासना करनी चाहिये। क्योंकि ''**श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'' इत्यादि श्रुतियों में उपासना सूचक विधिवाक्य सुने जाते हैं।

इस श्लोक में ''**सदा**'' इस पद से काल के व्यवच्छेद का निराकरण किया है। अर्थात् उपासना के बिना एक दिन भी न रहे, अर्थात् दैनिक उपासना करे। इसमें ''**स्मर्तव्यः सततं विष्णु र्विस्मर्तव्यो न जातुचित्, सर्वे विधिनिषेधा स्युरेतयोरेव किङ्कराः**'' अर्थात् सदा विष्णु का स्मरण करना चाहिये, कभी भी विष्णु का विस्मरण न करना, क्योंकि समस्त विधि और निषेध इसी के किङ्कर हैं। अर्थात् विष्णु के स्मरण से समस्त विधियों का अनुष्ठान और विष्णु के स्मरण के बिना सभी निषिद्ध कर्मों का आचरण होता है इत्यादि शास्त्रीय वाक्य प्रमाण हैं।

प्रश्न - रोज थोड़ा-थोड़ा स्मरण करने से भी तो ''**सदा**'' पद की सङ्गति हो जाती है।

उत्तर - हे वत्स ! इसीलिये श्रीआचार्यपाद ने ''**नितरां**'' पद का प्रयोग किया है। अर्थात् जैसे गङ्गा का प्रवाह अनवरत समुद्र में पड़ता है, पलार्थ भी नहीं रुकता, उसी प्रकार मनुष्य को भी उचित है कि अपने मन की वृत्तियों को हर समय श्रीकृष्ण के पादपद्म में लगाये रहे क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि ''**यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते। सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया।।**'' अर्थात् जिस मुहूर्त, जिस क्षण में वासुदेव भगवान् का चिन्तन नहीं किया जाता, वही हानि है, वही बड़ा भारी दोष है, वही भ्रान्ति है और वही विरुद्ध क्रियाओं का अनुष्ठान है।

प्रश्न - हे भगवन् ! अनवरत भगवान् का चिन्तन कैसे होगा, मन तो थोड़ी देर चिन्तन करने में ही चञ्चल हो जाता है ?

उत्तर - हे वत्स ! मन (अन्तःकरण) जब तक शुद्ध नहीं होता, तब तक भगवान् का अनवरत चिन्तन होना कठिन है। अतः मन (अन्तः-करण) की शुद्धि के लिये शुद्ध और अल्प सात्त्विक आहार

चाहिये। इसीलिये शास्त्रकार आज्ञा देते हैं कि ''**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**'' अर्थात् अहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण शुद्ध होने पर अनवरत भगवत् स्मृति होती है।

इस श्लोक में ''**जनैः**'' इस सामान्य पद का प्रयोग कर श्रीआद्याचार्यचरण ने बताया है कि अपने-अपने अधिकार के अनुसार समस्त प्राणियों को भगवान् की उपासना करने का अधिकार है।

प्रश्न - भगवान् की उपासना से क्या होता है ?

उत्तर - अनादि कर्मात्मिका अविद्या रूप अन्धकार का सम्बन्ध ही श्रीभगवन् प्राप्ति का प्रतिबन्धक है सुतरां उस अविद्या के सम्बन्ध की निवृत्ति के लिये भगवान् की उपासना करनी चाहिये।

एवं भगवदुपासकों के अभिलाषाओं को भगवान् स्वयं पूरण करते हैं यथा-''**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता**'' अर्थात् भगवान् को छोड़कर अन्य देवता अन्य मन्त्रादि जिन के उपास्य नहीं हैं, ऐसे अनन्य भक्तगण मेरा चिन्तन करते हुये देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण से मेरी उपासना करते हैं मेरे में नित्य संलग्न चित्त उन भक्तों के चतुर्विध पुरुषार्थ समर्पण रूप योग, तथा उनकी रक्षारूप क्षेम को मैं स्वयं वहन करता हूँ। उन भक्तों के ऊपर अनुग्रह कर उनकी बुद्धि में स्थित होकर उनके पूर्व सञ्चित कर्म स्वरूप अज्ञान से उत्पन्न धर्मभूत ज्ञान का अवरोधक अज्ञान (अन्धकार) को प्रकाशमान मद्विषयक ज्ञान स्वरूप प्रदीप से नाश करता हूँ, अतः कर्म जनित अज्ञानरूप अन्धकार की निवृत्ति के लिये पूर्वोक्त ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये।

प्रश्न - ''यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'' अर्थात् जो वाणी से न कहा जाय, जिससे वाणी भी कथन का सामर्थ्य लाभ करे, उसी को ब्रह्म जानो। जिसकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है। इत्यादि श्रुतियाँ उपास्य को ब्रह्मत्व का निषेध करती है। इसके विरुद्ध आप ब्रह्म की उपासना का विधान कैसे करते हो ?

उत्तर - हे वत्स ! आरोप्य वस्तु का ही उत्तर काल में निषेध किया जाता है, प्रमाणसिद्ध वस्तु का निषेध नहीं होता। जैसे नदी, सरोवर, कूपादि में गङ्गा का आरोप कर उत्तर काल में ''**नैषा गङ्गा किन्तु नदी**'' यह गङ्गा नहीं है किन्तु नदी है उसका निषेध किया जाता है, साक्षात् विष्णु के पादोदक स्वरूप भागीरथी गङ्गा में गङ्गा का निषेध नहीं होता। जैसे अग्नि विद्या की ''**पुरुषो वा व गोतमाग्निर्योषिद्वा व गोतमाग्निः**'' इत्यादि श्रुतियों में पुरुष तथा स्त्री में उपासना के लिये अग्नि का आरोप कर उत्तरकाल में उसका निषेध करते हैं, किन्तु प्रसिद्ध अग्नि में अग्नि का निषेध कोई नहीं करता वैसे ही ब्रह्म अतिरिक्त नाम वागादि में उपासनार्थ ब्रह्म का आरोप कर उत्तर काल में उसका ही निषेध ''**नेदमिदमुपासते**'' इत्यादि श्रुति करती है किन्तु विश्व के अन्तरात्मभूत परंब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना का निषेध नहीं करती है। यदि ऐसा न मानो तो छान्दोग्य उपनिषद् की भूमा की उपासना विधान करने वाली श्रुतियों की उपपत्ति नहीं हो सकती। अतः उपरोक्त कथन ही ठीक है।

''**नेदं यदिदम्**'' इसके ''**इदम्**'' पद से ही यह अर्थ प्रकाशित होता है क्योंकि इदं पदवाच्य जगत् है, और ब्रह्म उससे विलक्षण है सुतरां उपरोक्त अर्थ में अश्रुतार्थ कल्पना प्रसङ्ग की सम्भावना भी नहीं हो सकती है।

प्रश्न - आप ही इस उपासना का विधान करते हैं या आप से पूर्व में भी किसी ने इस उपासना का विधान किया है ?

उत्तर - हे वत्स ! सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीहंसावतार नारायण ने ब्रह्मा के तपोमय मन से आविर्भूत श्रीसनन्दनादि को उपासना का उपदेश दिया था और सनन्दनादि भगवान् ने श्रीनारद भगवान् को यह उपासना बतलाई। श्रीनारद भगवान् ने श्रीनिम्बार्क भगवान् के द्वारा जगत् में इस उपासना का प्रचार किया सुतरां यह सम्प्रदाय श्रीभगवत् प्रवर्तित होने से अनादि है। इसी को श्रीआचार्यजी ने अपने उक्त श्लोक के दो चरणों से प्रतिपादन किया है। अर्थात् आप कहते हैं कि सर्व तत्वों के प्रत्यक्ष द्रष्टा, चतुर्वेद समन्वित वेदार्थ रूप श्रीपञ्चरात्र के प्रवर्तक श्रीनारद को श्री सनकादिकों ने

जिस उपासना का उपदेश दिया और श्रीनारदजी ने मुझे जो उपासना बतलाई उसी को मैं भी बतलाता हूँ। अतः उक्त उपासना ही अनादि सम्प्रदाय सिद्ध है।

श्रीसनन्दनादि भगवदवतार है, सुतरां उनके उपदेश में अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यह सनन्दन पद के प्रयोग से सूचित किया है। तथा ''**मुनिभिः**'' इस पद से अप्रमाण के कारण स्वरूप प्रमादादि दोषों की निवृत्ति बतलाई है। सुतरां भगवदवतार होने से तथा भ्रम प्रमादादि दोषों से शून्य होने से श्रीसनन्दनादि आप्ततम हैं, और उनका उपदेश प्रमाणतम है। अतः मुमुक्षुओं को सादर सर्वथा ग्रहण करने के योग्य है।

प्रश्न - ''**सोऽहं भगवः शोचामि तं मां शोकस्य पारं दर्शयतु**'' इत्यादि श्रीनारद के वाक्यों से स्पष्ट जाना जाता है कि नारद शोकग्रस्त हैं, अतः सर्वज्ञ नहीं फिर उनका उपदेश कैसे प्रमाणित हो सकता है ?

उत्तर - हे वत्स ! श्रीनारदजी श्रीसनन्दन के चरण की शरणागति के पूर्व शोकग्रस्त होने पर भी शरणागति के पश्चात् कारण के सहित शोक की निवृत्ति होने पर सर्वज्ञ हो सकते हैं। इसमें ''**तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः**'' अर्थात् भगवान् सनत्कुमार सम्पूर्ण कषायों (शोकों) से रहित श्रीनारद को अविद्या का पार दिखाते हैं। अथवा सर्वज्ञ होने पर भी श्रीनारद सर्व लोकों के कल्याणार्थ अवतार ग्रहण कर शरणागति की शिक्षा देने के लिये श्रीपुरुषोत्तम कृष्ण की लीलानुकरण के समान अज्ञ का अनुकरण कर ''**सोऽहंभगवः शोचामि**'' इत्यादि प्रार्थना की। इसका यदि विशेष जानना हो तो छान्दोग्य उपनिषद् मँगाकर देखियेगा।

सामान्य रूप से इस सम्प्रदाय की अनादिता और वैदिकता साधारण जनों के लिये छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार हिन्दी में लिखे देता हूँ।

छान्दोग्य मूल - ''अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच-यद्वेत्थतेन मोपसीद ततस्तऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ।।१।। स होवाच ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणश्चतुर्थमिति-

हासपुराणे पञ्चमंवेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पविद्यां देवयजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ।।२।। सोऽहं भगवोमन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मविच्छ्रुतंह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोहं भगव शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति, तं होवाच यद्वैकिञ्चिदध्यगीष्ठा नामैवैतदित्युक्त्वानाम वा ऋग्वेद इत्यादिना नाम्ना एव सर्वविद्यारूपतां विधाय, नामोपास्वेति नामोपासनमुपदिश्य, यो नाम ब्रह्मेत्युपासते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवतीति फलश्चोपदिष्टम्। एवमेव वाङ्मनः सङ्कल्पादि विशेषकोपासना-नामुत्तरोत्तरभूयस्त्वं तत्फलानामपि तथात्वं चोक्त्वा अवसाने भूमोपासनमुपदिष्टवान्, यो वै भूमा तदेवसुखं नाल्पेसुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यति, अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्, स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठते ? स्वे महिम्नि यदिवा न महिम्नि। गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्ति हिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानि इति, नाहमेवं ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठत इति, स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् य दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीडात्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतोविदुरन्य-राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो-भवति, तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत इत्यारभ्य-आत्मनएवेदं सर्वमिति, न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोतदुःखतां, सर्वं ह पश्य पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशधा स्मृतः। शतं च दशचैकश्च सहस्राणि च विंशतिः।। स्मृति लम्भेसर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मैमृदितकषायाय-तमसः पारंदर्शयति भगवान्

सनत्कुमार इति।''

इसका अर्थ--

''अधीहि भगव इतिहोपससाद सनत्कुमारंनारदः''

शरणागति की विधि के अनुसार श्रीनारदजी भगवान् सनत्कुमार की शरण में जाकर शोक से पार होने का उपाय जानने की प्रार्थना की। श्रीनारदजी की उक्त प्रार्थना को सुनकर श्रीसनत्कुमारजी ने कहा ''**यद्वेत्थतेनमोपसीद ततस्तऊर्ध्वं वक्ष्यामि**'' कि तुमने जो अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया है, उसको हमसे कहो। इसके अतिरिक्त जो ज्ञातव्य होगा उसको मैं तुमसे कहूँगा। श्रीगुरुदेव सनत्कुमार के उक्त आदेश को सुनकर श्रीनारदजी ने कहा ''**ऋग्वेदंभगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेद-मथर्वणवेदमित्यादि**'' कि मैंने यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, देव विद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या, क्षत्र नक्षत्र विद्या, सर्पविद्या, देव-यजन-विद्या इत्यादि सभी पढा है, किन्तु फिर भी ''सोऽहं भगवः शोचामि'' मैं शोकग्रस्त हूँ। श्रीनारदजी के उक्त वाक्यों को सुनकर श्रीसनत्कुमारजी ने कहा कि इतना पढने पर भी तुम्हारे शोक करने का क्या कारण है ?

यह सुनकर श्रीनारदजी ने कहा कि ''**मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतं भगवद्दृशेभ्यस्तरतिशोकमात्मवित्**'' मैं मन्त्र (वेद के आनुपूर्वी वाक्य समूह) का ही जानने वाला हूँ, किन्तु आत्मज्ञान से शून्य हूँ। और मैंने आपके समान भागवज्जनों से सुना है कि चेतन और अचेतन स्वरूप, जगत् के आत्मा परब्रह्म के स्वरूप, गुणादि का प्रत्यक्ष द्रष्टा पुरुष ही सम्पूर्ण शोकों से निवृत्त होता है। वह ज्ञान मुझे प्राप्त नहीं है, इसलिये पूर्वोक्त सभी पढने पर भी शोकग्रस्त हूँ।

''**यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**'' इत्यादि श्रुति पूर्व कथित ब्रह्म के स्वरूप गुणादि के दर्शन से जीव का शोक निवृत्ति होता है, इसको प्रमाणित करती है।

श्रीसनत्कुमार श्रीनारदजी की उक्त प्रार्थना को सुन ''**नामब्रह्मे-त्युपासीत**'' इत्यादि वाक्यों से श्रीनारदजी को प्रथम अल्प फल देने वाली परिच्छिन्न कतिपय उपासनाओं का उपदेश दे, सब के अन्त में समस्त फल को देने वाली ''**भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः**'' इत्यादि वाक्यों द्वारा भूमा की उपासना का उपदेश देते हैं। अब भूमा की ही उपासना करनी चाहिये, इसका कारण दिखाते हैं।

''**यो वै भूमा तदेव सुखं नाल्पेसुखमस्ति**'' जो भूमा है वही पूर्ण सुख का स्थान है। अल्प (ब्रह्मातिरिक्तअन्यान्यदेवता) में पूर्ण सुख नहीं है। सुतरां पूर्ण प्राप्ति इच्छुक जीव को भूमा की ही उपासना करनी चाहिये। यहाँ पर ''**सुख**'' पद का अर्थ मोक्ष सुख है।

इस प्रकार की शिक्षा पाकर श्रोनारदजी भूमा को विशेष रूप से जानने की इच्छा से जिज्ञासा करते हैं कि ''**भूमानं भगवो विजिज्ञासे**'' मैं भूमा को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ। अतः कृपा कर भूमा और अल्प का लक्षण बतलाइये ।

श्रीसनत्कुमारजी श्रीनारद के उपरोक्त प्रश्न के अनुसार भूमा और अल्प का लक्षण बताते हैं कि ''**यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति-नान्यद्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्**'' जिस भूमा की उपासना में पूर्वोक्त नाम वागादिकों की उपासना के समान नामादि रूप अवच्छेदक को न देखे, न सुने, न जाने जाएँ उसको भूमा कहते हैं। अर्थात् देशकाल तथा वस्तु आदि के परिच्छेद (आवरण) से रहित, सब के आश्रयभूत श्रीकृष्ण ही भूमा शब्द से प्रतिपादन किये गये हैं। और जिससे नाम वागादि उपासनाओं में अवच्छेदक नाम वागादि देखे जाते हैं सुने जाते हैं जाने जाते हैं उनको अल्प कहते हैं अर्थात् देश काल और वस्तु आदि के परिच्छेद से जो युक्त है वही अल्प है।

परिच्छिन्न होने से ही अल्प नाश शील है। और अपरिच्छिन्न होने से भूमा अमृत है इसी को ''**यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्**''

इत्यादि वाक्यों से बतलाया है।

श्रीनारदजी उक्त वाक्यों को सुनकर जिज्ञासा करते हैं कि ''**स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठते**'' यदि उस भूमा का नाम वागादि अवच्छेदक (आश्रय) नहीं है तो वह कहाँ रहता है ?

श्रीनारदजी की उक्त जिज्ञासा का उत्तर देते हुये श्रीभूमा की सर्वोत्कृष्टता सर्व विलक्षणता तथा सर्व व्यापकता बतलाते हैं। ''**स्वमहिम्नि**'' अर्थात् वह भूमा अपनी ही महिमा में रहता है।

तब तो परिच्छिन्न हो गया ? इसका उत्तर श्रीसनत्कुमारजी देते हैं ''**यदिवा न महिम्नि**'' अर्थात् अपनी महिमा भी ब्रह्मात्मक है अतः स्व से अभिन्न है। अतएव वह हम सबकी तरह महिमा में नहीं रहता है किन्तु वह अपनी स्वात्मक महिमा में ही रहता है अतः परिच्छिन्न नहीं है।

''**गो अश्व**'' इत्यादि वाक्य से इसी का विवरण करते हैं। अर्थात् जगत् में साधारण जन धन, हाथी, घोड़ा, गृह आदि को ही महिमा कहते हैं। अतः महिमाशाली महिमा से भिन्न है इसीलिये देवदत्त हाथी पर जाता है। यज्ञदत्त घोड़े पर जाता है, चैत्र गृह में रहता है इत्यादि प्रतीति होती है किन्तु ''**अथ नाहमेवं ब्रवीमि**'' मैं ऐसा नहीं कहता हूँ।

तो आप कैसे कहते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में श्रीसनत्कुमार भूमा को सर्वान्तरात्मा बताते हुये सर्वत्र उसकी व्याप्ति बताते है। ''**सएवाधस्तात्**'' इत्यादि अर्थात् वह सबका अन्तरात्मा है। ऊपर, नीचे, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर सर्वत्र व्याप्त है उसके बिना किसी की भी सत्ता नहीं है। सभी वस्तुओं में उसकी सत्ता है।

इस प्रकार भूमा की सर्वान्तर्यामिता तथा सर्व व्यापकता का निरूपण कर उनके उपासकों को ही पूर्ण फल प्राप्त होता है, यह दिखलाते हैं। ''**स वा एष एवं पश्यन् एवं विजानन्**'' इत्यादि ''**स स्वराड् भवति तस्य सर्व लोकेषु कामचारो भवति**'' इत्यन्त तक।

अर्थात् वह उपासक इस प्रकार ब्रह्म को सर्वत्र देखता हुआ,

सर्वत्र मानता हुआ, सर्वत्र जानता हुआ भगवान् में ही अनुरक्त होता है। अपने शरीर तथा विषयादिकों में नहीं। वह भगवान् के साथ ही क्रीडा करता है किन्तु लौकिक क्रीडा नहीं करता, अतः एकमात्र भगवान् ही उसके साथी हैं स्त्री-पुत्रादि नहीं । वह भगवान् से ही आनन्द को प्राप्त होता है, बाह्य विषयों तथा उसके साधनभूत सम्पत्ति आदि से नहीं। वह भगवान् के द्वारा ही सर्वत्र प्रकाशमान होता है किन्तु इन्द्रियों तथा सूर्य चन्द्रादि से नहीं। क्योंकि उस अवस्था में उसके स्वाभाविक सार्वज्ञादि गुण प्रकट होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त उपासना को पुष्ट करते हुए अल्प फल को देने वाले परिच्छिन्न देवों की उपासना करने वालों को बारम्बार संसार चक्र में घूमना पड़ता है, इसी का प्रतिपादन करते हैं। **"अथ य अन्यथाऽतोविदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति"** इत्यादि।

जो मूढ ऊपर बतलाई हुई उपासना के विपरीत अन्य देवों की उपासना करते हैं "अर्थात् ब्रह्म के बिना ब्रह्मा, शिव, शक्ति, इन्द्रादि भी मोक्ष के देने वाले हैं। अतः यह भी स्वतन्त्र रूप से मोक्षार्थियों के उपास्य हैं। यह मानकर क्षुद्र फलप्रद देवों की उपासना करते हैं। वह स्वर्ग, पशु, पुत्रादि रूप संसार को ही बारम्बार प्राप्त होते हैं, क्योंकि उपर्युक्त सभी देवता जीव विशेष होने के कारण परतन्त्र हैं, अतः मोक्ष देने में असमर्थ हैं।

जो सर्व स्वतन्त्र नहीं है वह मोक्ष नहीं दे सकता। यह हरिवंश पुराण के घण्टाकर्ण के उपाख्यान पढने से स्पष्ट जाना जाता है। यथा--

"अहं कैलाशनिलयमासाद्य वृषभध्वजम्। आराध्य तं महादेवमस्तुवं सततं शिवम्। ततः प्रसन्नो मामाह वृणीष्वेति वरं हरः। ततो मुक्तिर्मया तत्र प्रार्थिता देवसन्निधौ। मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः। मुक्तेः प्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः। तस्माद्गत्वा तु बदरीं तत्राराध्य जनार्दनम्। मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नर-नारायणाश्रमे।"

अर्थात् मैं (घण्टाकर्ण) कैलाश में गया और वहां बहुत दिनों तक वृषभध्वज की आराधना की। हमारी अनवरत उपासना तथा स्तव से

प्रसन्न हो शिव ने दर्शन दे हम से वर मांगने को कहा। मैंने भी उनसे मुक्ति रूप वर की प्रार्थना की। हमारी प्रार्थना को सुनकर शिव ने कहा कि हे उपासक! मुक्ति देने वाले तो एकमात्र विष्णु भगवान् ही हैं और कोई नहीं। अतः मैं तुमको युक्ति बताता हूँ कि तुम नरनारायणाश्रम में जाओ और वहां गोविन्द भगवान् की आराधना कर उनसे मुक्ति लाभ करो। इसी प्रकार ब्रह्मा आदि भी मुक्ति देने में असमर्थ हैं। अतएव गीता में भगवान् ने भी स्वमुख से कहा है कि ''**अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्**'' अर्थात् मन्द बुद्धि वाले उन-उन देवताओं के भक्तों को नाशवान् फल ही मिलते हैं। अतः अल्प फलप्रद देवताओं की उपासना मुमुक्षुओं को त्याज्य है । इसी से नाम वागादि उपासनाओं को तुच्छ बतलाया गया है। और जैसे रसोई के वास्ते अग्नि जलाने पर शीत की निवृत्ति स्वतः हो जाती है, वैसे ही उक्त भूमा की उपासना करने पर पूर्वोक्त लक्षण अधिकारियों को पूर्वोक्त देवों की उपासना का फल भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। क्योंकि भूमा ही सर्वान्तरात्मा है। इसी को ''**न पश्यो मृत्युं पश्यति**'' इत्यादि ग्रन्थ से बताया गया है।

अर्थात् भूमा के स्वरूप गुणादि का प्रत्यक्ष द्रष्टा ''मृत्यु'' प्रमाद को नहीं प्राप्त होता। आध्यात्मादि ३ तापों को, तथा काम क्रोधादि से उत्पन्न नानाविध सन्तापों को नहीं प्राप्त होता है।

तथा ''**सर्वं हि पश्यति**'' इत्यादि से बताया गया है कि वह भूमा का उपासक सर्व देशकाल वस्तु विषयक ज्ञान का आश्रय हो जाता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है, आप्तकाम हो जाता है, तथा अपनी स्व असाधारण शक्तियों के आविर्भाव होने से भगवदिच्छानुकूल स्व-सङ्कल्प से अपरिमित स्वरूप धारण कर सकता है।

इस प्रकार भूमा की उपासना का उपसंहार करते हैं। ''**तस्मै मृदितकषायाय**'' इत्यादि। अर्थात् **मृदितकषायाय**=जन्म से ही शुद्ध। **तस्मै**=उपदिष्टार्थ ग्रहण करने में प्रवीण श्रीनारद के लिये। **तमसः पारं**=अविद्या के पार (ब्रह्म) को दिखाते हैं।

अतएव परब्रह्म भूमा पदवाच्य श्रीकृष्ण की उपासना ही भगवान्

के द्वारा प्रवर्तित होने से अनादि है, तथा वेद प्रतिपादित होने से वैदिक है। सुतरां मुमुक्षुओं को उपरोक्त परंब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना ही एकमात्र कर्तव्य है, यही सिद्ध हुआ ।।६ ।।

इति श्रीलाड़िलीशरण ब्रह्मचारी विरचिता 'उपासना विधेय तत्त्वस्य' सुबोधिनी टीका समाप्ता।

निदिध्यासन रूप उक्त उपासना के अन्तरङ्ग कारण ''श्रोतव्यः'' इत्यादि श्रुतियों से विधेय वाक्यजन्य ज्ञान का निरूपण करते हुए **''तत्त्वमसि'' ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** इत्यादि वाक्यों के अर्थ का निरूपण श्रीआद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने निम्नलिखित प्रकार से किया है।

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतम् त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्र साधिता ।।७ ।।

अन्वय - हि (यतः) श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः ब्रह्मात्मकत्वादतः सर्वं विज्ञानं यथार्थम्, त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्र साधिता (अतः सापि यथार्था)

समास-ब्रह्म आत्मा यस्य स ब्रह्मात्मकस्तस्य भावः तस्मात्। श्रुतिभिः सूत्रैश्चसाधितेति श्रुतिसूत्रसाधिता। त्रयाणां रूपाणां समाहारः त्रिरूपता।

सुबोधिनी टीका--

जबकि निखिल वस्तुयें श्रुति और स्मृतियों द्वारा ब्रह्मात्मक बतलाई गई हैं। अतः उनका विज्ञान यथार्थ है। और ब्रह्म, जीव, मायारूप त्रिरूपता भी श्रुति और सूत्रों में वर्णित है। अतः यह तीनों भी यथार्थ हैं।

प्रश्न - इस श्लोक में **''निखिलस्य''** तथा **''वस्तुनः''** इन दोनों पदों के देने का क्या तात्पर्य है?

उत्तर - हे वत्स ! इस श्लोक में **''निखिलस्य''** यह पद प्रकृति-पुरुष, क्षर-अक्षर, व्यय-अव्यय आदि पद प्रतिपाद्य चेतन और अचेतन

पदार्थ का बोधक है। और ''**वस्तुनः**'' यह पद उक्त दोनों पदार्थों को मिथ्या, अवस्तु तथा असत्य मानने वालों के पक्ष का निरास करता है। क्योंकि ''**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्, गौरनाद्यनन्तवती**'' इत्यादि श्रुतियाँ तथा ''**प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्द्यनादी उभावपि। ऊर्ध्व-मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। असत्यमाहुर्जगदेतदज्ञाः शक्तिं हरेर्ये न विदुः परां हि**'' इत्यादि स्मृतियाँ चेतन और अचेतन को अनादि अव्ययः, नित्य और सत्य बतलाती हैं।

प्रश्न – यह दोनों पदार्थ ब्रह्मात्मक क्यों कहे जाते हैं ?

उत्तर – हे वत्स ! पुरुषोत्तम परंब्रह्म इन दोनों पदार्थों के अन्तरात्मा हैं। अतः इनमें अन्तर्यामितया ब्रह्म की व्याप्ति होने से इनको ब्रह्मात्मक कहते हैं। इसमें ''**एष सर्वभूतान्तरात्मा, एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः, आत्मेत्युपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च**'' इत्यादि श्रुति, स्मृति और सूत्र प्रमाण हैं। अतः ''**सर्व**'' पदवाच्य चेतन और अचेतन स्वरूप विश्व का विधान (विशेष ज्ञान) भी यथार्थ है।

एवं ''**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्**'' इत्यादि श्रुतियों से तथा जिज्ञासु-जिज्ञासा और जिज्ञास्य को प्रतिपादन करने वाले ''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'' इत्यादि सूत्रों से भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) प्रेरिता (ब्रह्म) रूप त्रिरूपता प्रतिपादन की गई है अतः इनकी परस्पर स्वाभाविक भेदरूपता भी यथार्थ है यह वेदवेत्ताओं का सिद्धान्त है। अर्थात् चेतना चेतनरूप विश्व, ब्रह्मात्मक होने से, ब्रह्म के आधीन स्थिति प्रवृत्तिशाली होने से, तथा ब्रह्म का व्याप्य होने से ब्रह्म से अभिन्न है। एवं भोक्ता-भोग्य तथा प्रेरितारूप त्रिरूपता श्रुति और सूत्रों द्वारा प्रतिपादित की गई है अतः यह तीनों स्वरूप से भिन्न हैं। सुतरां यह चेतनाचेतनस्वरूप विश्व ब्रह्म से स्वाभाविक भिन्नाभिन्न है यही वेदवेत्ता श्रीसनत्कुमार श्रीनारदव्यासादिकों का निर्णीत सिद्धान्त है। क्योंकि वेदाचार्य श्रीवेदव्यास ने ''**तदन्यत्वमार-म्भण शब्दादिभ्यः, अधिकन्तु भेदनिर्देशात्, भेदव्यपदेशाच्चान्य**'' इत्यादि

उभयार्थ प्रतिपादक सूत्रों से, तथा **''अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके, उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डल-वत्''** इन भेदाभेद घटक दो सूत्रों से उभय प्रकारक (अर्थात् **ब्रह्मभिन्ना-भिन्न**) जगत् का निर्देश किया है।

प्रश्न – इस अर्थ को सरल कर श्रुतियों द्वारा समझा दीजिये।

उत्तर – सुनो वत्स ! जो यदात्मक होता है वह उससे अभिन्न होता है जैसे कुण्डल सुवर्णात्मक है अतः सुवर्ण से अभिन्न है। वैसे ही जीव और प्रकृति ब्रह्मात्मक हैं अतः ब्रह्म से अभिन्न हैं। एवं जिसकी स्थिति, प्रवृत्ति प्रभृति जिसके आधीन होती है वह उससे अभिन्न होता है यह छान्दोग्य उपनिषद् की प्राण सम्वाद में पठित ''न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण इत्वेवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति'' इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है।

एवं जो जिसका व्याप्य होता है वह उससे अभिन्न होता है। जैसे घट मृत्तिका का व्याप्य है अतः मृत्तिका से अभिन्न है। वैसे ही यह चेतनाचेतन जगत् भगवान् का व्याप्य है अतः ब्रह्म से अभिन्न है।

प्रश्न – श्रुतियों में तो भेदबोधक, तथा अभेद बोधक सभी प्रकार के वाक्य हैं। एक के मानने पर दूसरे का बाध अवश्य होगा। और ऐसा करने से अर्धनास्तिकता भी आवेगी। अतः उपरोक्त श्रुतियों का जिससे बाध न हो उस प्रकार समन्वय कर दीजिये।

उत्तर – सुनो वत्स ! स्वतन्त्र और परतन्त्र भेद से सत्ता दो प्रकार की है। अपने आश्रित होकर जिस की स्थिति और प्रवृत्ति हो उसको स्वतन्त्र सत्ता कहते हैं। वह विश्वात्म परंब्रह्म श्रीकृष्ण में रहती है। इसमें **''आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः एष सर्वेश्वरः, एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्य्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत, भीषास्माद्वातः पवते,** इत्यादि श्रुतियाँ तथा **सत्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे नचापरे''** इत्यादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं।

दूसरे के आधीन स्थिति प्रवृतिशाली सत्ता को परतन्त्र सत्ता कहते हैं वह सत्ता जीव और प्रकृति में रहती है। इसमें **''यदासीत्तदधीनमासीत्,**

जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः'' इत्यादि श्रुतियाँ तथा **''मत्तः सर्वं प्रवर्तते''** इत्यादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं। कूटस्थ और विकारी भेद से परतन्त्र सत्ता दो प्रकार की है। जन्मादि विकार से शून्य नित्य सत्ता को कूटस्थ सत्ता कहते हैं। वह जीवात्म समूह में रहती है। और उसके आधार को जीव प्रत्यक्-अक्षर पुरुष-क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों द्वारा प्रतिपादित करते हैं।

विकारशील होकर भी आद्यन्तशून्य सत्ता को विकारी सत्ता कहते हैं। वह प्रकृति में रहती है। उसके आश्रय को प्रकृति प्रधान आदि शब्दों द्वारा प्रतिपादन करते हैं।

हे वत्स ! स्वतन्त्र सत्ता को विषय करने वाले अभेदवाक्य हैं क्योंकि वह स्वतन्त्र सत्ताश्रय ब्रह्म एक है। उसी से अभेद प्रतिपादक वाक्यों की चरितार्थता हो जाती है। अतः अभेदबोधक वाक्यों का बाध नहीं है।

भेद को निषेध करने वाले वाक्य चेतनाचेतन वस्तु में स्वतन्त्र सत्ता का निषेध करते हैं। अतः भेद निषेधक वाक्यों का भी स्वार्थ में प्रामाण्य है । अतः उनका भी बाध नहीं है।

एवं भेद बोधक वाक्य परतन्त्र सत्ता के आश्रय-स्वरूप चेतन और अचेतन का स्वतन्त्र सत्ताश्रय ब्रह्म से स्वरूपतः भेद बताते हैं इसलिये वह भी यथार्थ है। अतः भेद बोधक वाक्यों का भी बाध नहीं है। सुतरां वाक्यों का समन्वय होने से उक्त सिद्धान्त ही सब प्रकार से आस्तिक है।

प्रश्न - ''**तत्त्वमसि**'' का शाब्दबोध बतला दीजिये।

उत्तर - हे वत्स ! इसमें तच्छब्द सर्वशक्ति विश्वात्म स्वतन्त्र सत्ताश्रय परब्रह्म को प्रतिपादन करता है।

''**त्वम्**'' पद ब्रह्मात्मीय-ब्रह्मात्मक-परतन्त्र सत्ताश्रय जीवात्म (ब्रह्म) का प्रतिपादन करता है।

और ''**असि**'' पद दोनों के सम्बन्ध का बोधक है।

उस सम्बन्ध का नाम-स्वतन्त्र सत्त्वाभेद सहिष्णु परतन्त्र सत्त्व

भेद है।

तत्पदार्थवृत्तिस्वतन्त्रसत्ताश्रयाभिन्नब्रह्मात्मकपरतन्त्र सत्ताश्रय भिन्नस्त्वं पदार्थः इति शाब्द बोधः।

अर्थात् ब्रह्म स्वाश्रित आत्मसत्ता से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, अतः विश्व से अभिन्न है।

एवं अपने आत्मीय तथा नियम्य चेतन में रहने वाली परतन्त्र सत्ता का आपमें अभाव होने से आप विश्व से भिन्न भी हैं, अतः विश्व से भिन्न होते हुए अभिन्न श्रीपुरुषोत्तम रमाकान्त श्रीकृष्ण हैं, यही सर्व वेदान्त का अर्थ है, तथा श्रीनिम्बार्काचार्य का सिद्धान्त भी है।

इस अविरोध सिद्धान्त के न मानने से परस्पर वाक्यों का विरोध होता है। अतः एकार्थ नहीं हो सकता। अनेक वाक्यों को सामञ्जस्य करता हुआ एकार्थ को बताने वाले वाक्य का नाम ही महावाक्य है। उपर्युक्त अर्थ करने से ही सब वाक्यों का सामञ्जस्य होगा और "**तत्त्वमसि**" महावाक्य कहलायेगा। अन्यथा नहीं। अतः पूर्वोक्त अर्थ ही ठीक है।

प्रश्न – निरूप्य और निरूपक के बिना परतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र सत्ता का निरूपण करना कठिन है। क्योंकि परतन्त्र सत्ता निरूपित स्वतन्त्र सत्ता है। तथा स्वतन्त्र सत्ता निरुपित परतन्त्र सत्ता है, ऐसा ही मानना होगा। और ऐसा मानने से परस्पर में परस्पर की आकाङ्क्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष होता है, अतः उभयविध सत्ता की सिद्धि न होगी। और दोनों सत्ताओं की सिद्धि न होने से भेदाभेद सम्बन्ध भी सिद्ध न होगा ?

उत्तर – हे वत्स ! स्वतन्त्र सत्ता का स्वाभाविक प्रयोजक (निरूपक) नियन्तृत्व, व्यापकत्व, सर्वात्मत्व, सार्वज्ञत्वादि धर्म हैं। तथा परतन्त्र सत्ता का स्वाभाविक प्रयोजक (निरूपक) नियम्यत्व, व्याप्यत्व, आत्मीयत्व, अल्पज्ञत्वादि धर्म हैं, अतःअन्योन्याश्रय दोष नहीं है। अर्थात् जो नियन्ता, व्यापक, सबका आत्मा होता है, जिसमें स्वाभाविक सार्वज्ञादि गुण हैं, वही स्वतन्त्र सत्ताशाली है और जो आधीन है, व्याप्य है, आत्मीय है, अल्पज्ञ है, वही परतन्त्र सत्ताशाली है। अतः दोनों प्रकार की सत्ताओं

के निरूपक भिन्न-भिन्न हैं, अतः परस्पर में साकाङ्क्ष नहीं है, सुतरां अन्योन्याश्रय दोष के गन्ध का लेशमात्र भी उक्त सिद्धान्त में नहीं है। और हे वत्स ! इस भिन्नाभिन्न सिद्धान्त में अवच्छेदक का अभाव है, यह शङ्का भी न करना। क्योंकि इसका भिन्नाभिन्नत्व ही अवच्छेदक है और वह अखण्डोपाधि है।

सुतरां इस सिद्धान्त में ही सभी वाक्यों का शक्ति वृत्ति से अपने-अपने स्वार्थ में प्रामाण्य होने से परस्पर में किसी भी वाक्य के विरोध की शङ्का का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। अतएव यह सिद्धान्त सर्वश्रुति सम्मत होने से सर्वश्रेष्ठ है।

इति श्री पं० लाड़िलीशरण विरचिता सिद्धान्त तत्वस्य
सुबोधिनी टीका समाप्ता।

प्रश्न - हे गुरुदेव ! भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) और नियन्ता (ईश्वर) के वास्तविक उपनिषद् सम्मत स्वरूप का ज्ञान, तथा भेद प्रतिपादक, भेद निषेध प्रतिपादक, अभेद बोधक, श्रुतियों का अविरोध पूर्वक समन्वय, एवं उनका स्वार्थ में प्रामाण्य और उपासना करने की आवश्यकता का तो मुझे आपके अनुग्रह से ज्ञान हो गया। अब कृपा कर उस उपासना के साधनों को बताइये !

उत्तर - हे शिष्य ! कर्म, ज्ञान और भक्ति, एवं भगवच्छरणागत का प्रयोजक गुर्वाज्ञानुवृत्ति भेद से साधन दो प्रकार के हैं।

प्रश्न - कर्म कितने प्रकार के हैं ? और उनका स्वरूप क्या है, उनकी मोक्ष में क्यों और कैसे उपयोगिता है, यदि कर्मों का आचरण न करें तो क्या क्षति है ? कर्म सबके एक ही प्रकार के हैं ? या पृथक्-पृथक्?

उत्तर - नित्य, नैमित्तिक, और काम्य भेद से कर्म तीन प्रकार के हैं।

जिसके करने से कुछ फल न हो तथा न करने से प्रत्यवाय (पाप)

हो उसको नित्यकर्म कहते हैं। **''अहरहःसन्ध्यामुपासीत, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्''** इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्य सन्ध्योपासन अग्निहोत्र प्रभृति द्विजों के नित्यकर्म हैं। वैसे ही दान देना, यज्ञ करना, वेद पढना यह भी द्विजों के नित्यकर्म हैं। उपर्युक्त सभी कर्म तथा दान लेना, यज्ञ कराना, वेद वेदाङ्ग का पढाना यह ब्राह्मण के नित्य कर्म हैं। किन्तु यह ६ कर्म (अर्थात् दान देना १, दान लेना २, यज्ञ करना ३, यज्ञ कराना ४, वेद पढना ५, वेद पढाना ६) भगवदाज्ञा होने से इसका अनुष्ठान करना हमारा कर्त्तव्य है, यह समझ कर यदि कर्म किये जांय तभी नित्य हैं। इसमें भी देह मात्र निर्वाह के उपयोगी द्रव्य का ही याजन, पाठन, और दान में लेना उचित है। अधिक लेने पर वह प्रतिग्रह कहलाता है। अतः उपरोक्त सभी कर्म ब्राह्मण के तथा याजन पाठन, दान ग्रहण को छोड़ कर अन्यान्य कर्म द्विज मात्र के नित्य कर्म हैं।

इन्द्रियदमन, तीर्थ सेवा, उपवास, फलाहार प्रभृति चारों वर्णों के समान कर्म हैं। किसी काल विशेष में किये जाने वाले कर्मों को नैमित्तिक कर्म कहते हैं। जैसे श्राद्धादि, अपने कर्तव्यादि अभिमान को छोड़कर केवल भगवत्प्रसादार्थ उपरोक्त कर्मों के करने से मन शुद्ध होता है। उससे ज्ञान तथा भक्ति का उदय होता है, तब मोक्ष होती है। अतः परम्परया यह कर्म मोक्ष के उपयोगी हैं।

इनका अनुष्ठान न करने से अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकता। मन शुद्ध न होने से किसी भी सत्कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता। अतः न करने में सभी प्रकार की क्षति है।

किसी कामना से पूर्वोक्त कर्मों के अनुष्ठान करने को काम्य कर्म कहते हैं।

इन तीनों प्रकार के कर्मों में मुमुक्षुओं को काम्य कर्म निषिद्ध कर्म के समान त्याग देना चाहिये। क्योंकि काम्य कर्मों से संसार का बन्धन होता है। किन्तु नित्य नैमित्तिक कर्म अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार ''यह शास्त्र मुख से भगवान् की आज्ञा है, अतः इसका पालन करना ही भजन है'' यह समझ कर अवश्य करने चाहिये।

प्रश्न - सभी वर्ण एक ही ईश्वर की सन्तान है, अतः परस्पर में भाई-भाई है, तब सभी वर्ण एक समान है। अतः हरिजन (चतुर्थ वर्ण) भी ब्राह्मणादि के कर्मों का आचरण कर सकते हैं।

उत्तर-गीता में भगवान् ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है कि-

ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणाञ्चपरन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा गच्छति तच्छृणु।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः।।

अपने-अपने स्वभाव जात-गुणों से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्रों के कर्मों का विभाग किया गया है। अपने-अपने कर्म में स्थित मनुष्य ही संसिद्धि लाभ कर सकते हैं। जिससे सम्पूर्ण भूतों की प्रवृत्ति होती है, जिससे यह जगत् व्याप्त है, मनुष्य अपने-अपने वर्णों के अनुकूल कर्मों से उन भगवान् की अर्चना कर सिद्धि का लाभ कर सकते हैं।

इसके विरुद्ध पाश्चात्य शिक्षित जन कूट युक्तियों से वर्ण और आश्रम भेद से श्रुति और स्मृतियों के द्वारा बतलाये हुये धर्म को छोड़कर विरुद्ध (आर्यों के विरुद्ध पाश्चात्य) धर्म में रत होते हैं, वह अपनी युक्तियों के बल से दुर्मत होकर स्वेच्छाचरण करते हैं, अतः नरकगामी होते हैं। क्योंकि पूर्वोक्त युक्तियों से जब सभी ईश्वर की सन्तान हैं, अतः सब ही समान हैं, तब पिता के समान होकर माता के साथ तथा रक्त-मांस से सभी का शरीर समान गठित है, अतः समान हैं, यह मानकर कन्या और भगिनी के साथ भी स्त्री के व्यवहार का आचरण करना चाहिये ! ऐसा करने से ही नरक होगा। इसलिये किसी प्रमाण के बिना केवल युक्तियों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण कर धर्म कर्म को तिलाञ्जलि देना मनुष्य का कर्तव्य नहीं है।

प्रश्न - वैष्णवों को पूर्वोक्त वर्ण तथा आश्रम के कर्मों का अनुष्ठान करने से क्या लाभ ?

उत्तर - हे वत्स ! वर्णाश्रम कर्म का अनुष्ठान न करने से वह वैष्णव ही नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वैष्णवों (विष्णुभक्तों) का लक्षण ही शास्त्रों में इस प्रकार का है।

''न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्ष पक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः स्थितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्।।''

अर्थात् जो मनुष्य अपने वर्ण तथा आश्रम धर्मों को नही छोड़ता है, अपने सुहृद् तथा शत्रुओं को समभाव से देखता है, किसी का कुछ हरण नहीं करता एवं किसी की हिंसा नहीं करता तथा जिनका मन श्रीकृष्ण में स्थित है, उनको विष्णुभक्त (वैष्णव) जानना चाहिये। वर्णाश्रम धर्म के परित्याग करने से वह वैष्णव नहीं कहलायेगा, क्योंकि वैष्णव को विष्णु की आज्ञाओं का यथावत् पालन ही एकमात्र कर्तव्य है। ऐसा न करने पर वह वैष्णव नहीं हो सकता। जैसा कि श्रीविष्णु भगवान् का कथन है कि-

''श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे ते य उल्लङ्घ्य वर्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोपि न वैष्णवः'' श्रुति और स्मृतियां मेरी आज्ञा हैं, उनको जो छोड़ देता है (अर्थात् उनके अनुसार अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करता है) वह भक्त मेरी आज्ञा का भंग करने वाला है, अतः वैष्णव नहीं है।

अज्ञान वश वर्णाश्रम धर्म का परित्याग करना तामस त्याग है, जैसा कि गीता में श्रीमुख से भगवान् ने कहा है कि--

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्याग तामसः परिकीर्तितः।।

नियत कर्मों का परित्याग हो ही नहीं सकता, यदि मोह (अज्ञान) से परित्याग करे तो वह तामस त्याग है।

प्रश्न - **''सर्वधर्मान्परित्यज्य''** इस गीता के अन्तिम श्लोक में तो भगवान् ने स्वयं ही सर्व धर्मों को परित्याग करना वैष्णव को बताया है। आप उलटा क्यों बता रहे हैं?

उत्तर - हे वत्स ! इस श्लोक से श्रीकृष्ण को सर्व धर्मों का त्याग

अभीष्ट नहीं है। किन्तु धर्मों के फलों का त्याग करना ही अभीष्ट है। ऐसा न मानने से-

त्यक्त्वा कर्म फलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तो पि नैव किञ्चित्करोति सः।।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थः निश्चितं मतमुत्तमम्।।

''भगवदतिरिक्त सभी के आश्रय से रहित तथा नित्य सर्वेश्वर के अनुग्रह से तृप्त भक्त (वैष्णव) कर्म के फलों की चाहना छोड़कर कर्म करने से भी कर्म के बन्धन का भागी नहीं होता है। अतः वह कुछ करने वाला नहीं है। कर्मों को छोड़ने वाला त्यागी नहीं है। किन्तु उन कर्मों के फलों की चाहना को छोड़ कर कर्म करने वाला ही त्यागी (संन्यासी) है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों की आसक्ति तथा फलों की चाहना छोड़ पूर्वोक्त नित्य और नैमित्तिक कर्म करना ही चाहिये। हे अर्जुन यही मत उत्तम है, ऐसा मेरा निश्चय मत है।'' इत्यादि भगवान् के वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे। अतः वैष्णवों को उचित है, कि वह अनर्गल तर्कों को छोड़कर ''एक मात्र भगवान् की आज्ञा का पालन करना ही मेरा कर्तव्य है'' यह समझ कर कर्मों की आसक्ति और फलों की चाहना को छोड़कर भगवत्प्रसादार्थ नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान अवश्य करें।

प्रश्न - हे प्रभो ! ज्ञान का क्या लक्षण है। तथा मोक्ष में उसका किस प्रकार उपयोग है।

उत्तर - हे वत्स ! पूर्वोक्त नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से जिनका मन शुद्ध हो चुका है, तथा शास्त्रों में जिनका अधिकार प्राप्त है, ऐसे मुमुक्षु पुरुषों द्वारा अभ्यस्त वेदान्त वाक्यों के श्रवण मननादि से उत्पन्न परंब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम के स्वरूप गुण शक्ति वैभवादि विषयक अनुभव विशेष को ज्ञान कहते हैं। और वह ज्ञान भगवान् के प्रसन्नता से आविर्भूत भगवत्साक्षात्कार के द्वारा मोक्ष में उपयोगी है, साक्षात् नहीं।

प्रश्न - भक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - वर्षाकाल में गङ्गा के प्रवाह के समान जीवन पर्य्यन्त निरन्तर बढने वाले भगवत्स्मरण परम्परा रूप अनुभव विशेष को भक्ति कहते हैं। इसका विशेष विचार नवम श्लोक में बतायेंगे।

प्रश्न - प्रपत्ति का क्या लक्षण है ?

उत्तर - शास्त्रोपदिष्ट कर्मज्ञानी साधनों के यथावदनुष्ठान करने में अपनी असमर्थता समझ कर साम्प्रदायीय सदाचार के अनुसार बतलाये हुये मार्ग से दयानिधि रमाकान्त पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के पादपद्मों में अपनी आत्मा तथा आत्मीय को समर्पण करने का नाम प्रपत्ति है।

प्रश्न - गुर्वाज्ञानुवृत्तिता किसको कहते हैं ?

उत्तर - काल, रोग, मन का असंयम प्रभृति बहुत विघ्नों के कारण प्रपत्ति के सम्पूर्ण अङ्गों के अनुष्ठान करने में "मैं असमर्थ हूं" यह समझ कर मोक्ष के उपाय को बताने वाले श्रीगुरुदेव के पाद पद्मों में सब प्रकार से अपने को समर्पण कर केवल श्रीगुरुदेव की आज्ञा पालन करने का नाम ही गुर्वाज्ञानुवृत्तिता है।

इसमें कर्मयोग श्रीआद्याचार्यजी ने सदाचार प्रकाश में निर्णय किया है। उसी के अनुसार जानना चाहिये।

ज्ञानयोग इसी ग्रन्थ के पूर्व में कहे हुए तत्त्व-त्रय के स्वरूप विषयक ज्ञान को जानना।

प्रपत्ति तथा गुर्वाज्ञानुवृत्ति यहां पर श्रीआद्याचार्य के श्लोक के अनुसार बताता हूँ।

नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्।।८।।

अन्वय - **ब्रह्मशिवादिवन्दितात्, भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्य-विग्रहात्, अचिन्त्यशक्तेः, अविचिन्त्यसाशयात्, कृष्णपदारविन्दात्, अन्यागतिर्न दृश्यते (लोकानाम्)**

समास - **पदमरविन्दमिवेति पदारविन्दम्=कृष्णस्य पदार-विन्दम् कृष्णपदारविन्दम् तस्मात्। ब्रह्मा च शिवश्च ब्रह्म शिवौ तौ आदि येंषान्ते ब्रह्मशिवादयस्तै वन्दितात्। भक्तानामिच्छा तया।**

सुचिन्तितुं योग्यः सुचिन्त्यः उपात्तः (व्यक्तीकृतः) सुचिन्त्यो विग्रहो येन स उपात्तसुचिन्त्यविग्रहस्तस्मात्। चिन्तितुं योग्या चिन्त्या न चिन्त्या इति=अचिन्त्याः, अचिन्त्याः शक्त्यो यस्य स तस्मात्। आशयेन सह वर्तमानं साशयं=तात्पर्यम्। अविचिन्त्यं साशयं यस्य सोऽविचिन्त्यसाशयस्तस्मात्।

सुबोधिनी टीका--

''**पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः**'' इत्यादि श्रुतियों में जीवों की अरविन्द के समान चरण वाले श्रीकृष्ण के बिना अन्य गति नहीं दीखती है।

''**कृष्णपदारविन्दात्**'' पद में अवयव और अवयवी की अभेद विवक्षा करने पर ''**गति**'' पद कर्म व्युत्पत्ति से सिद्ध होता है। अर्थात् ''**गम्यते=प्राप्यते मुक्तैरिति गतिः**'' श्रीकृष्ण के बिना जीवमात्र की अन्य गति आश्रय नहीं है। इसमें ''**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। अहमेव गतिः तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्। न हि विष्णुं ऋते काचित् गतिरन्याभिधीयते**'' अर्थात् जीवमात्र के गति स्वामी, भर्ता, साक्षी, आश्रय, रक्षक, तथा सुहृद् आप ही हो। निष्काम कर्म करने वालों की मैं ही गति हूँ। विष्णु के बिना कोई भी गति नहीं बताई गई है। इत्यादि शास्त्रीय वाक्य प्रमाण हैं।

और ''**कृष्णपदारविन्दात्**'' पद में अवयव तथा अवयवी की भेद विवक्षा करने पर ''**गतिः**'' पद करण व्युत्पत्ति से सिद्ध होता है। अर्थात् ''**गम्यते प्राप्यतेऽनया सा गतिः**'' श्रीकृष्ण के पादपद्मों की उपासना से ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है, अर्थात् श्रीकृष्ण को प्राप्त कराने वाले भी श्रीकृष्ण के पादपद्म ही हैं। इसमें ''**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।**'' अर्थात् जो अनन्य जन ध्यान करते हुए मेरी सम्यक् उपासना करते हैं, निरन्तर आदर पूर्वक मेरे में मन लगाये हुये हैं, उन्हीं के लिये मैं योग (हमारी प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण पुरुषार्थ) और क्षेम (प्राप्त पदार्थों की रक्षा) को मैं स्वयं वहन करता हूँ, इत्यादि भगवद्वाक्य प्रमाण हैं। तभी तो गीता

का उपदेश शेष करते हुए अर्जुन को अति गोपनीय तथा श्रेष्ठतम इसी का उपदेश दिया है कि ''**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**'' मेरे में मन लगावो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो। बिना अनन्य हुए श्रीकृष्ण के पाद पद्म की प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि ''**यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम्। नावलोकेत कृपयाह्यनन्य-जन वत्सलः**'' जब तक जीव श्रीकृष्ण से अन्य देव का आश्रय ग्रहण करता है, तब तक अनन्य जनवत्सल भगवान् भी उसको अपनी पूर्ण कृपा दृष्टि से नहीं देखते। जैसे पुत्र के ऊपर वात्सल्य करने वाली माँ अपने प्यारे पुत्र को नाना प्रकार के अन्यान्य खिलौनों में निमग्न देखकर कुछ काल के लिये उससे बेफिक्र हो जाती है, और जब तक वह पुत्र खिलौनों को छोड़कर माँ के लिये नहीं रोकर पुकारता, तब तक माँ उसको अपनी गोद में लेकर प्यार नहीं करती। वैसे ही जीव जब तक श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवताओं की उपासना में लगा रहता है, तब तक उसको अपनी पूर्ण कृपा दृष्टि से नहीं देखते हैं, किन्तु वही जब सब देवताओं को छोड़कर श्रीकृष्ण के लिये रोकर पुकारने लगता है, तब भगवान् एक घड़ी की भी देर न कर उसको दर्शन दे अपनी भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष दे देते हैं। अतः श्रीकृष्ण की प्राप्ति का एकमात्र उपाय श्रीकृष्ण के पादपद्मों की अनन्य भाव से प्रपत्ति ही है। इसके ज्वलन्त उदाहरण सभा में द्रौपदी के पुकारने पर वस्त्र का बढाना, गजेन्द्र का ग्राह से छूटना इत्यादि अनेक हैं।

प्रश्न – श्रीकृष्ण की प्राप्ति से क्या होता है?

उत्तर – ''**मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्य-धमां गतिम्।**'' अर्थात् उदारचेता मुमुक्षु मुझे प्राप्त कर नश्वर दुःखालय रूप जगत् में पुनर्जन्म नहीं लेता, क्योंकि वह परम संसिद्धि (भगवद्भावापत्ति) को प्राप्त हो गये हैं। हे अर्जुन ! मनुष्य मुझे न प्राप्त करके ही अधम गति (बारम्बार जन्म-मरण रूप दुःख) को प्राप्त होते हैं। अतः उपेय रूप भी श्रीकृष्ण हैं, और उनकी प्राप्ति का उपाय भी उन्हीं के पाद पद्म हैं, यह सिद्ध होगया।

इसी कथन से प्रपत्ति का स्वरूप भी बतलाया गया है।

उत्तर – शरणागति का लक्षण ही इस प्रकार है। यथा– ''**अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः। त्वमेवापापभूतो मे भवेति सुदृढा मतिः। शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्।**'' अर्थात् मैं अपराधों का स्थान हूँ, अकिञ्चन हूँ, अगति हूँ, आप ही मेरे उपाय स्वरूप हो, इस प्रकार की प्रार्थना करने वाली बुद्धि को ही शरणागति कहते हैं। उस शरणागति का इस देव में प्रयोग करो। यही शरणागति का लक्षण है।

प्रश्न – अकिञ्चन तथा अगति का क्या लक्षण है ?

उत्तर – किसी प्रकार के साधन अनुष्ठानादि की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। ऐसा मानने वाले मुमुक्षु को अकिञ्चन कहते हैं। भगवान् के बिना अन्य साधन, अन्य फल, अन्य देवतादि की उपासना रूप सम्बन्ध से रहित जन को अगति कहते हैं।

प्रश्न – शरणागति कितने प्रकार की है और उसका लक्षण क्या है?

उत्तर– **आनुकूल्यस्य सङ्कल्प प्रातिकूलस्य वर्जनम्।**
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।।

इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवान् के आनुकूल्य का सङ्कल्प, प्रातिकूल्य का वर्जन, रक्षा करेंगे यह विश्वास, रक्षा करने की प्रार्थना, आत्मात्मीय का समर्पण, अपनी दीनता का परिदर्शन, इन भेदों से शरणागति ६ प्रकार की है।

सम्पूर्ण जगत् के अन्तर्यामी और प्रेरक भगवान् हैं, ऐसा निश्चय कर ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्यन्त सभी प्राणियों के अनुकूल आचरण करना मेरा कर्तव्य है। यह समझना ही शरणागति का प्रथम अङ्ग है। अर्थात् आनुकूल्य सङ्कल्प रूप शरणागति है।।

जगत् के अन्तर्यामी तथा प्रेरक भगवान् हैं, सभी कार्य उन्हीं की इच्छा से होते हैं। यह समझ कर किसी के साथ हिंसा मात्सर्य तथा कटु

वचन प्रभृति दुःखद आचरण का विधान न करना। यह शरणागति का दूसरा अङ्ग है, अर्थात् प्रातिकूल्यवर्जन रूप शरणागति है। इसका विशेष वर्णन विरोधी स्वरूप के निरूपण में करेंगे।

"रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः। स विश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतिनाशनः" इत्यादि वाक्यों के अनुसार शरण में आये हुये हमारी रक्षा भगवान् अवश्य करेंगे। इस प्रकार की पक्की बुद्धि का नाम ही विश्वास है यह विश्वास सब पापों का नाशक है। इस विश्वास को भगवान् में निरन्तर बनाये रखना। यही तीसरा अङ्ग है। अर्थात् विश्वास रूप शरणागति है।

"अप्रार्थितो न गोपायेदिति या प्रार्थना मतिः
गोपायिता भवत्येव गोप्तृत्ववरणं स्मृतम्।"

अर्थात् सबकी रक्षा करने में समर्थ, कृपा और वात्सल्य के अगाध समुद्र होने पर भी अपने से बहिर्मुख तथा प्रार्थना न करने वालों की रक्षा नहीं करते, क्योंकि ऐसा न करने से शास्त्र की मर्यादा नष्ट हो जायेगी। ऐसा समझ कर निरन्तर अपनी रक्षा करने के लिये प्रार्थना करने का नाम ही गोप्तृत्ववरण है।

प्रश्न - एक की रक्षा करना और एक की रक्षा न करना। ऐसा करने से तो भगवान् में विषमतादि दोष हो जायेंगे।

उत्तर - हे वत्स ! कल्पवृक्ष के नीचे जाकर जो मनुष्य जो चाहता है, उसको वही मिलता है। जो उसके नीचे जाकर नहीं मांगता, उसको कुछ नहीं मिलता। इसमें कल्पवृक्ष का वैषम्य नहीं है, तत्पुरुषों की रुचि की विषमता है। वैसे ही भगवान् की शरण जाकर जो जन प्रार्थना करता है, उसकी रक्षा करते हैं। जो प्रार्थना नहीं करता उसकी रक्षा भी नहीं करते। इसमें भगवान् की विषमता नहीं है, किन्तु उन-उन पुरुषों की ही विषमता है। अतः अनवरत भगवान् से भगवद्भावापत्तिरूप मुक्ति प्राप्ति की प्रार्थना करते रहना चाहिये।

शरणागत पालक भगवान् श्रीकृष्ण के असाधारण प्रसाद का कारण एकमात्र शरणागति ही है। ऐसा निश्चय कर अपना (आत्मा) और

अपने सम्पूर्ण सम्बन्धों (आत्मीयों) को श्रीकृष्ण के पादपद्मों में अर्पण करने का नाम ही आत्मनिक्षेप है।

आत्मात्मीय समर्पण का ज्वलन्त दृष्टान्त, दैत्यराज महात्मा बलि तथा श्रीदाशरथि भरतजी महाराज हैं।

अनेक प्रकार से अपने गुरु शुक्राचार्य के द्वारा तिरष्कृत तथा अभिशापित होने पर भी श्रीबलि महाराज ने अपना सारा त्रिलोकी का राज्य ही नहीं, किन्तु अपना शरीर तक श्रीवामनरूपधारी विष्णु के पादपद्मों में अर्पण कर, सदा के लिये भगवान् को पृष्ठरक्षक भृत्य के समान अपना द्वार रक्षक बना लिया।

अपने पिता के द्वारा अयोध्या की राज्यगद्दी मिलने पर एवं अग्रज श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा बहुत कुछ समझाने पर भरतजी ने मधुर शब्दों में ''मेरा शरीर, राज्य, धन, मित्र, कलत्र, वाहनादि सभी श्रीरामचन्द्रजी के लिये है हमारा कुछ भी नहीं है'' इस प्रकार निवेदन कर पितृ प्रदत्त तथा अग्रजानुमोदित राज्यभार एवं अपने शरीर तक को श्रीरामचन्द्रजी के पादपद्मों में समर्पण कर उनकी पादुका को राज्यगद्दी पर स्थापन कर स्वामी के समान पादुका की सेवा में ही वियोगी जीवन व्यतीत किया।

एवं श्रीकृष्ण का भी तो अन्तिम उपदेश अर्जुन को यही हुआ है कि ''**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**'' सब छोड़कर एक मेरी शरण स्वीकार करो। अतः शरणागति ही जीवों के समस्त पापों को नाश कर अनायास भगवत् प्रसाद का कारण है।

भगवदनुग्रह के बिना मनुष्य के उपाय किसी प्रकार सिद्ध नहीं होते, और उसमें विघ्न अनायास ही प्राप्त होते हैं। अतः अपने कर्तापन का अभिमान करना व्यर्थ है ऐसे निश्चय का नाम ही कार्पण्य है।

हे वत्स ! इस ६ प्रकार की शरणागति में आत्मनिक्षेप रूप शरणागति ही प्रधान है, क्योंकि आत्म समर्पण करने से अन्य पांच अङ्ग अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं।

और इस शरणागति में सात्त्विक भगवान् की प्राप्ति के इच्छुक

अकिञ्चन, अगति, मूर्ख, विद्वान् सभी अधिकारी हैं। अतः प्रपत्ति से प्राप्त करने योग्य श्रीकृष्ण के पादपद्मों के बिना साधन साध्य रूप जीवों की गति कहीं भी श्रुतियों में नहीं देखी जाती है। यह सिद्ध हुआ--

प्रश्न - **विरिञ्चो वाव जगद्विरेचयति विदधातीति ब्रह्मा वाव विरिञ्चः, एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्चः''** इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्मा तथा शिव का भी जगत्कर्तृत्वादि सुना जाता है, सुतरां यह देवता भी जीवों की शरणागति रूप गति हो सकते हैं। तथा **''कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा''** इत्यादि भगवदीय वाक्यों से कर्म तथा ज्ञानादि भी उपाय रूप गति हो सकते हैं। आप एकमात्र कृष्ण को ही उपाय उपेय रुप गति कैसे मानते हैं।

उत्तर - हे वत्स ! इस सन्देह को दूर करने के लिये ही श्रीआचार्यपाद ने **''ब्रह्मशिवादिवन्दितात्''** यह विशेषण दिया है। अर्थात् ब्रह्मा शिव से आदि कर सभी देवता आपके पादपद्मों की स्तुति नमस्कार तथा वन्दना करते हैं। अतः आप ब्रह्मा शिवादि देवों के भी उपाय उपेय रूप गति हैं, फिर हम सब मनुष्यों की गति हैं, इसमें तो सन्देह ही क्या है। इसमें **''यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि''** इत्यादि श्रुतियाँ तथा **''एते वयं वृत्ररिपुस्तथायं नासत्यदस्रो वरुणस्तथैव। इमे च रुद्रा वसवः ससूर्याः समीरिणाग्निप्रमुखास्तथान्ये। सुराः समस्ताः सुरनाथ कार्यमेभिर्मया यच्चतदीश-सर्वम्। आज्ञापयाज्ञां प्रतिपालयन्तस्तथैव तिष्ठाम सदास्तदोषाः।''** इत्यादि स्मृतियां इसमें प्रमाण हैं। अर्थात् सब देवता, मुमुक्षु तथा ब्रह्मवादी जिनको नमस्कार करते हैं, वृन्दावन में कल्पवृक्ष के नीचे (रत्न सिंहासन पर) विराजमान, सच्चिदानन्द विग्रह, उन्हीं एकमात्र गोविन्द को मरुद्गणों (देवताओं) के सहित मैं (ब्रह्मा) निरन्तर दिव्य स्तुति से प्रसन्न करता रहता हूँ।

हे सुरनाथ ! हे ईश !! हम (ब्रह्मा) तथा इन्द्र-अश्विनीकुमार

वरुण-एकादशरुद्र-अष्टवसु-द्वादश सूर्यों के सहित वायु-अग्नि प्रभृति समस्त देवता ही सावधान होकर आपकी आज्ञा का पालन कर जैसे के तैसे ही खड़े हैं। इन देवताओं के तथा मेरे करने योग्य जो कार्य हो उसको शीघ्र बताइये। इत्यादि वाक्यों द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है कि, ब्रह्मा शिवादि देवों की उपाय, उपेय रूप गति एकमात्र श्रीकृष्ण हैं। अतः प्रत्येक जीव को उन्हीं की प्रपत्ति (शरणागति) ग्रहण करनी चाहिये।

प्रश्न - जैसे शिवादि श्रीकृष्ण की स्तुति पूजा करते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण भी शिव की स्तुति पूजा करते हैं। यह भारत के **''नमस्ते शितिकण्ठाय नीलग्रीवाय वेधसे''** इत्यादि श्लोकबद्ध शिवस्तव नाम से जगत् प्रसिद्ध है। अतः शिवादि भी जगत् की गति हो सकते हैं।

उत्तर - हे वत्स ! इसका उत्तर महाभारत के उसी उपाख्यान के आद्यन्त मनन करने से हो जाता है। उसका भावार्थ यहां स्पष्ट कर देता हूं। जिस समय श्रीकृष्ण कैलाश में जाकर शिव की आराधना रूप तप करने लगे, उस समय ब्रह्मेन्द्रादि देवताओं को तथा ब्रह्मज्ञानी महर्षियों को सन्देह हुआ कि, स्वयं परंब्रह्म होकर श्रीकृष्ण शिव का आराधन क्यों करते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त सभी देवता व्रजलीला में श्रीकृष्ण के परंब्रह्मत्व का अनुभव कर चुके थे, अतः उनका सन्देह होना ठीक ही था।

अतः पूर्वोक्त सभी देवता तथा महर्षिगण एकत्रित होकर कैलाश में गये, वहां श्रीकृष्ण को शिव की आराधना करते देख सबको अत्यन्त विस्मय हुआ।

तदन्तर शिव का आविर्भूत होना एवं श्रीकृष्ण द्वारा शिव का स्तुत्य होना प्रभृति देख कर सबको यही धारणा हुई कि श्रीकृष्ण परंब्रह्म नहीं, किन्तु शिव ही परंब्रह्म हैं।

देवताओं की इस विपरीत बुद्धि को देख कर उनके सन्देह निवरणार्थ श्रीशिवजी ने पार्वतीजी के सहित श्रीकृष्ण को प्रणत हो प्राञ्जलि (हाथ जोड़) पूर्वक स्तव किया।

पार्वतीजी के सहित श्रीशिवजी को प्राञ्जलि करते देख देवताओं ने भी श्रीकृष्ण को प्राञ्जलि की।

मेरी प्राञ्जलि को देखकर देवताओं ने भी श्रीकृष्ण को हाथ जोड़े हैं, अतः मेरे स्तव करने से इनका सन्देह दूर हो जायगा। यह निश्चय कर श्रीशिवजी ने श्रीकृष्ण की भगवत्ता का परिदर्शन कराते हुए **''यत्तत्कारण-माहुस्तत्सांख्याः प्रकृतिसंज्ञकम्''** यहां से प्रारम्भ कर **''नमस्करोमि सर्वात्मन् नमस्तेऽस्तु सदा हरे''** यहां तक स्तुति की।

ऐसा करने पर भी जब उन देवता तथा महर्षियों की असम्मानादि की निवृत्ति को न देखा। तब उन देवताओं के सन्देह को दूर करने के लिये महर्षियों को उपदेश दिया कि, आप लोग इन्हीं श्रीकृष्ण को जानने की चेष्टा करो, तुम सबके यही एकमात्र तप हैं। सब से पर यही हैं, इनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। तुम निरन्तर शुद्ध मन से इन्हीं का ध्यान करो। तुम्हारे परम श्रेय स्थान तथा परम धन यही हैं। तुम्हारा तपस्या का फल स्वरूप यही हैं। यही सनातन धर्म के रक्षक हैं। एकमात्र यही सबको मोक्ष देने वाले हैं। ब्रह्मवादी विद्वान् निरन्तर इन्हीं की स्तुति करते हैं। ब्रह्म जानने वालों की यही एक मात्र गति हैं, ऐसा वेद वेत्ताओं ने कहा है। मेरा यह कथन यथार्थ है। तुम सब इसमें कोई सन्देह मत करो।

इस प्रकार शिव के मुख से श्रीकृष्ण का निरतिशय परत्व, श्रेय रुपत्व, तप आदि कर्मफलत्व, पुण्याधिष्ठानत्व मोक्ष प्रदातृत्व, मोक्ष सम्प्रदाय प्रवर्त्तकत्व प्रभृति सुनकर सब देवता तथा महर्षिगण सन्देह एवं विपरीत सन्देह एवं विपरीत ज्ञान से निवृत्त हाथ जोड़ कर शिव से बोले कि आपका कहना यथार्थ है। हम सबका सन्देह छूट गया। इसी के लिये हम सब आपके पास आये थे। आपके संग से हमारा बड़ा भारी सन्देह निवृत्त हो गया। हम सब आपके कथनानुसार ही हरि में प्रयत्न करेंगे। ऐसा कहकर प्रसन्न चित्त हो केशव भगवान् को प्रणाम किया। किन्तु श्रीकृष्ण तथा शिव में साम्य बुद्धि बनी ही रही।

यह जानकर श्रीशिव ने **''ततः स भगवान् रुद्रः सर्वान् विस्मापयन्निव। स्तुत्या प्रचक्रमे स्तोत्रं विष्णुं सर्वेश्वरं हरिम्।। अर्थ्याभिः श्रुतियुक्ताभिर्मुनीनां शृण्वतां तदा। नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।। यस्य भासा जगत्सर्वं भासते नित्यमच्युत।''**

यहां से प्रारम्भ कर **''भूयो भूयो नमस्ते पाहि लोकान् जनार्दनः।''** यहां तक के स्तोत्र से भगवान् के निरस्तसाम्यातिशयत्व (अर्थात् आप से बड़ा तथा आपके समान कोई नहीं है) इसको प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण के साथ अपनी समता को दूर किया।

इसके बाद सब देवता तथा महर्षिगण परम सन्तुष्ट हो, श्रीकृष्ण को ही एकमात्र परंब्रह्म मान कर कृतार्थ हो, अपने-अपने स्थान पर गये।

अतः श्रीकृष्ण का कैलाशगमन उपाख्यान भी श्रीकृष्ण के निरतिशय महत्व तथा परत्व का ही प्रतिपादन करता है। अतएव श्रीकृष्ण ही सबकी एकमात्र गति हैं।

प्रश्न - श्रीकृष्ण यदि परंब्रह्म हैं, तो शिव का पूजन क्यों किया ?

उत्तर - हे वत्स ! नारायणीय उपाख्यान में अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण से ऐसा प्रश्न किया था, उसका उत्तर भगवान् ने जिस प्रकार दिया है, उसी को बतलाये देते हैं।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जिज्ञासा की कि, आप सबके ईश्वर हैं। सभी आपकी आराधना करते हैं। आप ही समस्त जगत् के कारण हैं। फिर आपने शिव का पूजन क्यों किया ?

ऐसा प्रश्न करने पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि, सम्पूर्ण विश्व की आत्मा मैं हूँ। और शिव भी विश्व के अन्तर्गत हैं, अतः उनकी भी आत्मा मैं हूँ। इसलिये रुद्र के अन्तर्गत मैंने अपनी आत्मा का ही पूजन किया है, रुद्र का नहीं।

यदि मैं न पूजता तो कोई भी रुद्रात्मक मेरी आत्मा को न पूजेगा। यह विचार कर सकामी जनों को शिक्षा देने के लिये मैंने रुद्रात्मक अपनी आत्मा का पूजन किया, क्योंकि मैं जिसको प्रमाण करूंगा, संसार जन उसी का अनुकरण करेंगे। अतः रुद्र में अपनी आत्मा का पूजन लीला मात्र सकामी लोकों के संग्रह के लिये ही किया।

इसी को शास्त्र अन्वय व्यतिरेक से समर्थन भी करते हैं। यथा--

''नहि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद्विबुधाय च। ऋते आत्मान-

मेवेति....... । इति व्यतिरेकः ।''

''सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवा महर्षयः । अर्चयन्ति सुररेष्ठ देवं नारायणं हरिम् । सर्वेषामग्रणी विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः । इति अन्वयः ।''

अर्थात् अपनी आत्मा को छोड़कर श्रीविष्णु किसी भी देवता को प्रणाम नहीं करते हैं। इसी का नाम व्यतिरेक है।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादिकों के सहित सब देवता तथा महर्षिगण सुर-श्रेष्ठ हरिदेव नारायण पद वाच्य श्रीकृष्ण की अर्चना करते हैं। विष्णु ही सबके अग्रणी (श्रेष्ठ) हैं अतः वही निरन्तर सेव्य तथा पूज्य हैं। अतः रुद्र के भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजमान अपनी आत्मा का लोक शिक्षणार्थ पूजन करने से श्रीकृष्ण के परंब्रह्मत्व में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त (वैष्णव) भी लोक संग्रह के लिये शिव का पूजन कर सकते हैं।

उत्तर - नहीं वत्स, नहीं ! श्रीकृष्ण के भक्त श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी भी देवता को ईश्वर बुद्धि से पूजा नहीं कर सकते, क्योंकि श्रुतियों में इसका निषेध है। यथा--

''अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसाव योऽहमिति न स वेद यथा पशुः । यो वै स्वां देवतामतियजति परस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति । तमेवैकंविजानथ आत्मानमन्या-वाचो विमुञ्चत ।''

अर्थात् जो पुरुष जगज्जन्मादि के कारण सर्वेश्वर विश्वात्मभूत पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से भिन्न ब्रह्म, रुद्रादि रूप देवता की भेद बुद्धि से उपासना करते हैं, वह शास्त्र ज्ञान हीन हैं। क्योंकि वह सब भगवान् की आराधना जन्य अनुग्रह से यत् किंचित् ईश्वरपने को प्राप्त होने पर भी, सर्वेश्वर, जगत् के कारण, सब के नियामक, शास्त्र योनि, मोक्ष दाता न होने से जीव विशेष हैं। सुतरां उनको ईश्वर समझने वाले शास्त्र निरूपित ज्ञान से शून्य हैं। अतः **''ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः''** के अनुसार पशु हैं।

दूसरी श्रुति का अर्थ भी इस प्रकार है--

स्वां देवताम्=अपने पूजने योग्य विश्वात्म परंब्रह्म रूप देवता को। **अति**=छोड़ कर। **परस्वायै देवतायै**=ब्रह्मा, रुद्रादि रूप अन्य देवताओं को। **यजति**=पूजता है। **च्यवते**=वह अपने अनन्य वैष्णवपने से च्युत हो जाता है। **न परां प्राप्नोति**=वह परागति (भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष) को। न प्राप्नोति=नहीं प्राप्त होता है। **पापीयान्**=अतिशय पापी। **भवति**=होता है।

अर्थात्-जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष में आसक्त हो, तो वह पातिव्रत्य से च्युत होजाती है। अतः उसको पतिलोक नहीं प्राप्त होता। वह अतिशय पापिनी समझी जाती है। वैसे ही वैष्णवादि अपने स्वामी को छोड़कर अन्य देवताओं की पूजा करेंगे तो वैष्णवत्व से च्युत होने के कारण परागति को नहीं प्राप्त होंगे, किन्तु अतिशय पापी होंगे।

तीसरी श्रुति का अर्थ भी इस प्रकार है--

''**तम्**'' का अर्थ परंब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। ''**एव**'' पद उनके साम्य का निषेध करने वाला है। ''**एक**'' पद उनसे अधिक का निषेध करता है। अतः यह अर्थ होता है। **तमेवैकम्**=साम्यातिशयशून्य परंब्रह्म श्रीकृष्ण को। **विजानथ**=विशेष रूप से जानो। **अन्या वाचः**=अन्य देवता विषयक वाक्य। **विमुञ्चथ**=उच्चारण मत करो।

जबकि श्रुति उपास्य देवता को छोड़कर अन्य देवता विषयक वाक्य के उच्चारण तक का निषेध करती है, तब अन्य देवता की पूजा विष्णु भक्त कैसे करेंगे। यह कैमुत्तन्याय से ही जाना जाता है। अतः श्रुति विरुद्ध होने से वैष्णव विश्वात्मभूत परंब्रह्म श्रीकृष्ण के बिना अन्य किसी भी देवता का आराधना वन्दना नहीं कर सकते। यही सम्प्रदाय का अटल सुनिश्चित सिद्धान्त है।

प्रश्न - ब्रह्मा शिवादि श्रीकृष्ण के पादपद्मों की वन्दना क्यों करते हैं ?

उत्तर - इस सन्देह को दूर करने के लिये ही श्रीआचार्य पाद ने

''**अचिन्त्यशक्तेः**'' यह विशेषण दिया है। इसमें ''**शक्तिः**'' पद ज्ञान, बल, ऐश्वर्यादि दिव्य स्वाभाविक कल्याण गुणों का उपलक्षण है। अर्थात् आपके शक्ति, ज्ञान, बल, ऐश्वर्यादि दिव्य गुण स्वाभाविक तथा अनन्त होने से अचिन्त्य हैं। अर्थात् जिनकी इयत्ता (सीमा) तर्कों से भी अगम्य है। अतः भगवान् के पाद पीठ की ब्रह्मा, रुद्रादि देवगण अनवरत वन्दना किया करते हैं।

प्रश्न - भगवान् किसको कहते हैं ?

उत्तर- **उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम्।**
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ।।

जो सर्वशक्तिमान् तथा दिव्य षडैश्वर्य समन्वित हो, उसको भगवान् कहते हैं।

और उस भगवान् शब्द के अर्थ का यदि सङ्कोच न किया जाय, तो उस शब्द की शक्ति का शुद्ध परंब्रह्म में ही समावेश होता है। अतः शास्त्रों में कहा गया है कि ''**शुद्धे महाविभूत्याख्ये परेब्रह्मणि वर्तते। मैत्रेय! भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे।**'' हे मैत्रेय ! भगवान् यह शब्द सब कारणों के भी कारण स्वरूप महाविभूति नामक शुद्ध परंब्रह्म में ही मुख्यतया वर्तमान है। और वह परंब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। अतएव आपने गीता में अपने श्रीमुख से कहा है कि--''मत्तः सर्व प्रवर्त्तते। मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जयः। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।'' मेरे से ही यह सब जगत् होता है। हे धनञ्जय ! मेरे से पर और कोई नहीं है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे में सूत्र में मणियों की तरह ओत प्रोत है। अतएव ''**एवमेव महा शब्दो भगवनिति सत्तम ! परमो ब्रह्म भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः।**'' अर्थात् हे सत्तम ! यह भगवान् रूप महाशब्द परंब्रह्म वासुदेव श्रीकृष्ण का ही वाचक है, अन्य का नहीं। इत्यादि वाक्यों की सार्थकता होती है। सुतरां यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि, परंब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् पद वाच्य हैं। अतः उनके अनन्त गुण हैं, जिनका तर्कों द्वारा भी अन्त करना कठिन है, इसलिये ब्रह्मा रुद्रादि देव निरन्तर उनके पाद पीठ की वन्दना करते रहते हैं।

प्रश्न – यदि श्रीकृष्ण का ऐसा निरतिशय ऐश्वर्य है और अनवरत ब्रह्मादि देवता उनकी पाद पीठ की वन्दना करते हैं तब तो दीन जनों का वहां प्रवेश ही होना असम्भव है। अतः दीनजन उनकी शरण कैसे प्राप्त करेंगे। यदि उनको शरण न मिले तो वह श्रीकृष्ण, दीन दयालु, सर्व शरण्य कैसे कहला सकते हैं ?

उत्तर – हे वत्स ! इस सन्देह के दूर करने को लिये ही श्रीआद्याचार्य जी ने ''**भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहात्।**'' यह विशेषण दिया है। अर्थात् आप निरतिशय ऐश्वर्यशाली तथा ब्रह्मा, रुद्रेन्द्र, वरुणादि से पूजित होने पर भी, अकारण दयालुता प्रभृति सद्गुणों के अगाध समुद्र हैं। अतः भक्तों की इच्छानुसार सुन्दर चिन्तनीय श्रीविग्रह को प्रकट कर, सबको शरण देते हैं, अतः सर्व शरण्यता आप में सिद्ध है।

जैसा कि अर्जुन की प्रार्थना करने पर आपने अपने सुदुर्दर्श्य दिव्य स्वरूप को प्रकट कर अर्जुन की इच्छा पूर्ण की। यह श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश अध्याय को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

अर्जुन ने भी आपके दिव्य स्वरूप को देख ''**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः लोकत्रयेऽपि प्रथितः प्रभावः**'' इत्याद्यन्त श्लोकों से निरस्तसाम्यातिशयत्वादि ब्रह्म धर्मों को प्रतिपादन कर स्तुति की। और ''**तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्**'' इत्यादि श्लोकों से अपनी दीनता दिखाते हुये नाना अपराधों को क्षमा करा, फिर पूर्वानुभूत सौम्य चतुर्भुज रूप को देखने की इच्छा प्रकट की। तब फिर श्रीकृष्ण अपने तेजोमय दिव्य स्वरूप को अन्तर्हित कर सौम्य चतुर्भुज स्वरूप से प्रकट होकर बोले कि, मेरी प्रसन्नता से ही तुमने मेरे इस दिव्य स्वरूप का दर्शन किया है। आजतक तुम्हारे बिना किसी ने भी पहले इस स्वरुप को नहीं देखा है। ब्रह्मादि देवगण भी नित्य इस स्वरूप को देखने की इच्छा रखते हैं। किन्तु मेरा दर्शन उसी को होता है, जिसको मैं प्रसन्न होकर दिव्य चक्षु देता हूँ। वेद पढने से, यज्ञ करने से, दान प्रभृति कर्मों से मेरा दर्शन नहीं होता, यह बतलाते हुये भयभीत अर्जुन को सान्त्वना दी।

अतएव सिद्ध होता है कि, आप जगत् के कारण विश्व के आत्मा ब्रह्मादि सेवित पाद पीठ, मुक्त पुरुषों के प्राप्य, षड्विधैश्वर्य्यशाली होने पर भी भक्ति और शरणागति के व्याज से प्रसन्न हो शरणागत वत्सलता दयालुतादि अशेष कल्याण गुणों के परवश होकर शरणागत भक्त दीनजनों को सुलभ हो जाते हैं।

भक्तों और शरणागतों के माहात्म्य से श्रुति, इतिहास, पुराण, स्मृति भरी पड़ी हैं, जिनमें विस्तृत रूप से उनका माहात्म्य वर्णित है। देखने वाले उन-उन ग्रन्थों में तथा वेदान्तरत्न मञ्जूषा के तृतीय कोष्ट में ८ वें श्लोक की टीका में देख लें। नमूना स्वरूप यत्किञ्चित् संक्षेप में यहां पर लिख देता हूं।

यथा गोपालतापिनी उपनिषद् में ब्रह्मा के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति-**"यथा त्वं सह पुत्रैस्तु यथा रुद्रो गणैः सह यथा श्रियाऽभियुक्तोऽहं तथा भक्तो ममप्रियः"** अर्थात् जैसे पुत्रों के सहित तुम (ब्रह्मा) और गणों के सहित रुद्र, और लक्ष्मी मुझे प्रिय हैं, मेरे भक्त भी मुझे वैसे ही प्रिय हैं।

भक्तों में भी एकान्ती भक्त भगवान् के अत्यन्त प्रिय होने से श्रेष्ठ हैं। जैसा श्वेत द्वीपपति श्रीनारायण ने श्रीनारदजी से कहा है। यथा **"तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चानन्यदेवताः। न च मां ते ददृशिरे नच दृक्ष्यामि कश्चन। ऋते ह्येकान्तिनं चैषांत्वञ्चैवैकान्तिको मम।"** अर्थात् भक्तों में भी एकान्ती भक्त ही श्रेष्ठ हैं। उन एकान्ती भक्तों के बिना मुझे किसी ने न देखा है, न देखेंगे। तुम्हीं मेरे एकान्ती भक्त हो, अतः तुमको दर्शन हुआ है।

प्रश्न - एकान्ती भक्त किसको कहते हैं।

उत्तर - एक भगवान् विष्णु ही मेरे उपाय और उपेय हैं ऐसा दृढ निश्चय जिनको हो। उनको एकान्ती भक्त कहते हैं।

ऐसे भक्तों के दर्शन करने के लिये भगवान् स्वयं अपना स्थान छोड़ कर जाते हैं। जैसे पांच वर्ष की अवस्था में तप करने वाले ध्रुव को दर्शन देने के लिये स्वयं वैकुण्ठ छोड़कर गये थे। शरशय्या पर पड़े हुये

एकान्ती भक्त भीष्म पितामह के दर्शन के लिये आप कुरुक्षेत्र गये थे। इत्यादि अनेक उपाख्यान शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

शरणागत का माहात्म्य, यथा महाभारत भीष्मपर्व-

ये तु कृष्णं प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति जन्तवः।
भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्दनः ।।

द्रोण पर्व- **ये प्रपन्ना हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति जन्तवः**

मत्स्य पुराणे- **अपि स्यात्सकुलेऽस्माकं सर्व भावेन यो हरिम्।**
प्रयायाच्छरणं विष्णुं देवेशं मधुसूदनम् ।।

नारायणीये- **या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।**
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ।।

भगवद्गीतायाम्- **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।**

अर्थात् जो प्राणी श्रीकृष्ण की शरण जाता है, उसे मोह (संसार बन्धन) नहीं होता है। बहुत बड़े भय में पड़े हुये उन शरणागतों की जनार्दन भगवान् नित्य रक्षा करते हैं। जो हृषीकेश के शरण हैं, उनको संसार रूप मोह नहीं होता है। हमारे कुल में ऐसा पुत्र जन्म ले, जो सब प्रकार से मधुसूदन के शरणागत हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के जो साधन शास्त्रों में बताये गये हैं, उनके बिना श्रीनारायण कृष्ण की शरण जाने से जीव को वैसे ही मिल जाते हैं। मेरी (भगवान् की) जो शरण आता है, वही इस माया रूपी संसार समुद्र से पार होता है, इत्यादि।

प्रश्न - निरतिशय ऐश्वर्यशाली भगवान् दीन भक्तों के आधीन क्यों रहते हैं ?

उत्तर - हे वत्स ! इसी सन्देह को दूर करने के लिये श्रीआचार्यपाद ने ''**अविचिन्त्यसाशयात्**'' यह विशेषण दिया है। अर्थात् आपका अभिप्राय ब्रह्मादि देव तथा नित्यमुक्त जीव भी नहीं जान सकते, फिर हम कैसे बतावें कि वह भक्तों के अधीन क्यों रहते हैं। जैसा कि श्रुति स्मृतियों में वर्णित है। यथा--

''न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप''

''ब्रह्मादीनां सलोकानामृषीणाञ्च महात्मनाम्।

सांख्यानां योगिनाञ्चापि यतीनां ब्रह्म वेदिनाम्।
मनीषितं विजानाति केशवो न तु तस्य ते।।''

अर्थात् विष्णु भगवान् की महिमाओं का जानने वाला न हुआ है, न होगा। लोकों के सहित ब्रह्मादि देवों के, ऋषियों के, महात्माओं के, ज्ञानियों के, योगियों के, सन्यासियों के, ब्रह्मज्ञानियों के अभिप्राय को केशव भगवान् जानते हैं। किन्तु केशव भगवान् के अभिप्राय को कोई नहीं जानता है।

ऐसा ही आपका अभिप्राय है, ऐसा ही आपका स्वरूप है, इतने ही आपके गुण हैं, इन्हीं बातों का पूर्वोक्त श्रुति, स्मृतियों के वचनों से निषेध किया गया है। ब्रह्म का ज्ञान ही नहीं होता, उनके किसी गुण को कोई जान ही नहीं सकता। इसका निषेध नहीं है, ऐसा जानना चाहिये। **अन्यथा ''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति''** इत्यादि श्रुतियों का बाध हो जायगा।

पदारविन्द अङ्ग होने पर भी अङ्गी श्रीकृष्ण के साथ अभेद की विपक्षा कर पूर्वोक्त सभी विशेषणों का सामञ्जस्य कर लेना। और **''पद''** शब्द से विग्रहयुक्त परंब्रह्म की प्रपत्ति ही आचार्य को अभीष्ट है, यह जानना।

अरविन्द शब्द सौन्दर्य का ज्ञापक होने से पद नख के सौन्दर्यातिशय को प्रकट करता है, यह जानना।

किन्तु यह ज्ञान श्रीगुरुशरणागति के बिना नहीं होता है, जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है।

न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः कुतः।
गुरु पारयिता तस्य ज्ञानं प्लवमिहोच्यते।।

अर्थात् श्रीगुरुदेव की शरण के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, शिष्य के लिये श्रीगुरुदेव कर्णधार हैं, और उनका दिया हुआ ज्ञान ही नौका है। अतः संसार समुद्र से पार होने के लिये श्रीगुरुदेव की शरण अवश्य ग्रहण करनी चाहिये।

सामवेदीय उपनिषद् ने गुरु शरणागति पर खूब ही जोर देकर

सबको गुरुशरण जाने का आदेश दिया है।

''यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततो विजने विसृजेत् स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा विसृष्टः तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य ब्रूयादेतांदिशं गन्धारा एनांदिशं व्रजेति, स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधवी गंधारानेवोपसम्पद्येतैव मेवेहाचार्यवान् पुरुषोवेद'' अतएव **''आचार्य देवो भव ?''**

अर्थात् हे सौम्य ! (शिष्य) जैसे चोर किसी पुरुष के आंखों में पट्टी बाँध, उसका सर्वस्व हरण कर गन्धार देश से ला वन में छोड़ दे। तो वह नहीं जान सकता है, कि मेरा गन्धार देश पूर्व में है, या उत्तर में है, या पश्चिम में है, तदनन्तर यदि गन्धार देश का ज्ञाता तथा दयालु कोई व्यक्ति उसके आंखों की पट्टी खोल कर बतला दे, कि इस दिशा में गन्धार देश है, और रास्ते में अमुक-अमुक ग्राम मिलेंगे। यह सुनकर यदि वह ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ ठीक बतलाये हुये मार्ग से चला जाय तो शीघ्र अपने देश में पहुँच जाता है। वैसे ही मायारूपी चोर ने पुरुषरूपी जीव के आंखों में पट्टी बांध (अर्थात् उसके धर्मभूत ज्ञान को आवरण कर) सर्वस्व हरण कर (अर्थात् प्रजापति विद्या के बतलाये हुये जीव वृत्ति गुणाष्टक को छीन) गन्धारदेश रूप स्वस्वरूप ज्ञान से लेकर बनरूप संसार सागर में छोड़ दिया। अतः जीव को नहीं मालूम है कि मेरा स्थान रूप भगव-च्चरणारविन्द किधर हैं, मैं कहां हूँ, मैं किधर जाऊं। उस समय भगवच्चरणारविन्द के स्वरूप का ज्ञाता तथा दयालु गुरुदेव यदि उसकी मायारूपी पट्टी को खोल कर उस देश में जाने का मार्गरूप सम्प्रदाय की शिक्षा देकर अर्चिरादि पद्धति रूप ग्रामों को बतादे। और शिष्य भी श्रीगुरुदेव के शिक्षानुसार विधिवत् सम्प्रदाय की पद्धति का अनुगामी होकर चले, तो शीघ्र अर्चिरादिपद्धति के रास्ते भगवद्भावापत्तिरूप अपने गृह में पहुँच जायगा। अतएव श्रुति कहती है कि तुम आचार्य के उपासक हो।

किन्तु गुरु की शरण जाने से पूर्व यह अवश्य जान लेना चाहिये कि इनसे मेरा अज्ञान दूर होगा या नहीं, क्योंकि जैसे टूटी नौका पर बैठ

कर कोई भी विशाल नदी से पार नहीं हो सकता, वैसे ही सम्प्रदाय ज्ञानहीन गुरु के उपदेश से भी विशाल संसार समुद्र का पार होना असम्भव है। अतएव श्रुति ने गुरु का लक्षण इस प्रकार बताया है। यथा- ''**श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**'' अर्थात् श्रोत्रिय उत्तमकुल, जात तथा शब्दब्रह्म (वेद) और परंब्रह्म श्रीकृष्ण में जिनकी निष्ठा हो, ऐसे गुरुदेव की शरण जानी चाहिये। स्मृतियों में तो बहुत ही स्पष्ट रूप से गुरु का लक्षण बताया गया है। यथा-

आचार्य्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः।
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।।

अर्थात् आचार्य्य (स्वयं आचरण शील) वेद पढा हुआ, विष्णु भक्त, मत्सर (दूसरे के उत्कर्ष को न सहना) से रहित, इस मन्त्र का जानने वाला, तथा इष्ट मन्त्र में भक्ति रखने वाला, हर समय इष्ट मन्त्र के आश्रित रहने वाला, पवित्र रहने वाला, अपने गुरुदेव की भक्ति करने वाला, विशेष कर पुराणों का जानने वाला, यह सब लक्षण जिसमें हो, उसको गुरु कहना चाहिये। और ऐसे गुरु की शरण जाने के लिये श्रुति और स्मृतियों ने आज्ञा दी है। अतः उपर्युक्त लक्षण वाले गुरु की ही शरण जाना उचित है। एवं श्रीगुरुदेव को भी चाहिये कि शरण में आये हुये व्यक्ति की परीक्षा कर यदि शिष्य करने के उपयुक्त हो तभी उसको ब्रह्म विद्या देनी चाहिये। क्योंकि श्रुति और स्मृतियों ने परीक्षा पूर्वक ही विद्या देने के लिये आज्ञा दी है।

यथा -''**तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशांतश्चित्ताय शमन्विताय**'' अर्थात् विद्वान् (जीवात्मपरमात्मस्वरूप गुणादि विषयक यथार्थ ज्ञानवान्) गुरु शरण में आये हुए अच्छी प्रकार से शान्त चित्त वाले शम, दमादि साधन युक्त शिष्य को ब्रह्म विद्या का उपदेश देना चाहिये। बिना परीक्षा किये विद्या देने का निषेध किया गया है।

यथा- ''नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथञ्चन।

यथाहि कनक शुद्धं तापच्छेदन घर्षणैः ।।
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।''

अर्थात् बिना चरित्र की परीक्षा किये किसी प्रकार से भी विद्या न देनी चाहिये। जैसे सुवर्ण यद्यपि ठीक है, किन्तु फिर भी स्वर्णकार तपा कर, काट कर, घिस कर उसकी परीक्षा करता है। वैसे ही कुल, गुण और चरित्रों से शिष्य की परीक्षा करे।

इस प्रकार गुरु शिष्य की और शिष्य गुरु की परीक्षा कर उपयुक्त शिष्य उपयुक्त श्रीगुरुदेव की शरण ग्रहण कर हर समय उनकी आराधना करने में तत्पर रहे।

कर्म और ज्ञान के साधनों को यथावत् पालन करने में असमर्थ मुमुक्षु जैसे भगवान् की शरण में जाने से सब पदार्थों को प्राप्त करता है। वैसे ही भगवच्छरणागति के अंगों का अनुष्ठान करना बहुत कठिन है। मुझ से यथावत् पालन नहीं हो सकते। ऐसा समझ कर अनवरत श्रीगुरुदेव की आज्ञा में चलने से भी शिष्य को सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। भगवान् के समान श्रीगुरुदेव की सेवा करता हुआ श्रीगुरुदेव की आज्ञानुसार चलने का नाम ही गुर्वाज्ञानुवृत्तिता है।

किसी भी पुरुषार्थ को प्राप्त करने की योग्यता मुझ में नहीं है, श्रीगुरुदेव ही एकमात्र मेरे उपाय और उपेय हैं, इस प्रकार से निश्चित बुद्धि होकर अनवरत श्रीगुरुदेव की आज्ञानुसार चलने पर तथा श्रीगुरुदेव के पादपद्मों की सेवा करने पर अन्य किसी साधन के बिना भी उसके सभी अभिलाषाओं की पूर्ति श्रीगुरुदेव की एकमात्र कृपा से ही हो जाती है। जैसे दूध पीने वाला बालक अपना अच्छा और बुरा न समझ कर एकमात्र माता के ही अनुगत रहता है। और उसकी माता सब आपत्तियों से उसकी रक्षा करती है, और उसकी सभी इच्छाओं की पूर्ति करती है। किसी प्रकार का रोग होने पर तिक्त औषधि उसको न खवा कर उसके रोग की निवृत्ति के लिये वह स्वयं औषधि खाती है। वैसे ही अपना भला और बुरा न विचार कर सब प्रकार से श्रीगुरुदेव के अनुगत होने से उस शिष्य की सब प्रकार से रक्षा तथा उसकी सभी अभिलाषाओं की पूर्ति श्रीगुरुदेव

स्वयं करते हैं। अतएव शास्त्रों में श्रीगुरुदेव का माहात्म्य इस प्रकार से वर्णित है। यथा-

गुरुदेव परंब्रह्म गुरुरेव परं धनम्।
गुरुरेव परः कामो गुरुरेव परायणः।।
गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परागतिः।

अर्थात् श्रीगुरुदेव ही एकमात्र शिष्य के लिये परंब्रह्म हैं। उत्कृष्ट धन हैं, उत्कृष्ट काम हैं, उत्कृष्ट आश्रय हैं, उत्कृष्ट विद्या हैं, और उत्कृष्ट गति (उत्कृष्ट उपाय और उपेय) हैं।

अतएव शास्त्रों ने शिष्यों के लिये उसके कर्त्तव्य का इस प्रकार निर्णय किया । यथा--

ध्यायेज्जयेन्मे द्भक्त्या भजेदभ्यर्चयेन्मुदा।
उपायोपेयभावेन तमेव शरणं व्रजेत्।।

अर्थात् निरन्तर श्रीगुरुदेव का एवं उनके नाम का ध्यान करना चाहिये, उन्हीं के नाम की भक्ति पूर्वक जय, तथा श्रीगुरुदेव का पूजन करना चाहिये। क्योंकि शास्त्रों में शिष्य का लक्षण ही इस प्रकार कहा है। यथा--

शरीरं चासु विज्ञानं वासः कर्म गुणान् वसून्।
गुर्वर्थं धारयेद्यस्तं स शिष्यो नेतरः स्मृतः।।

अर्थात् अपना शरीर, विशेष ज्ञान, प्राण, गृह, सब प्रकार के कर्म समस्त गुण, धन को जो गुरु के लिये ही धारण करता है, उसी का नाम शिष्य है। अन्य का नहीं। यह श्रीनारद पञ्चरात्र की जयदाख्यान संहिता में विशेष रूप से वर्णित है।

उपर्युक्त लक्षण विशिष्ट श्रीगुरुदेव से कभी भी विमुख न होना चाहिये। क्योंकि गुरुदेव से बहिर्मुख शिष्य को भगवान् भी त्याग देते हैं, इतना ही नहीं किन्तु उसको नाना प्रकार की नरक यातनाओं को भी उसे भोगना पड़ता है। जैसे कमल को प्रस्फुटित कराने वाला सूर्य ही जल से रहित उसी कमल को अपने ताप से जला देता है, वैसे ही शिष्य को आनन्द देने वाले भगवान् गुरु से बहिर्मुख शिष्य को नाना प्रकार की नरक

यातनाओं से दुःखी करते हैं। अतः अनवरत श्रीगुरुदेव की आज्ञानुसार चलना ही शिष्य के लिये सब सुख प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

उनके वाक्यों का प्रत्युत्तर देना तो दूर **''न निःश्वासमपि व्यक्तं विसृजेद्गुरुसन्निधौ''** के अनुसार उनके समीप में जोर से श्वास भी नहीं लेना चाहिये।

जहां पर श्रीगुरुदेव का अपवाद और निन्दा होती हो, वहां पर या तो कान बन्दकर ले, अथवा वहां से उठ कर दूसरी जगह जला जाय।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा चैव प्रवर्त्तते।
तत्र कर्णौ पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

अपने मुख से तो कभी भी गुरुदेव का निन्दा न करनी चाहिये।

एवं श्रीगुरुदेव को भी उचित है, कि यदि भूल वश शिष्य से एक, दो बार अपराध हो जाय तो भी उस शिष्य को परित्याग न करे। क्योंकि शरणागत व्यक्ति के परित्याग का महान् अपराध है। किन्तु उसके उन अपराधों को दूर करने के लिये श्रीसर्वेश्वर के पादपद्मों में प्रार्थना करे। और भगवान् के द्वारा उसके अपराधों को क्षमा करावे, और शिष्य को भी उसके अपराधों को बतला कर भविष्य में ऐसा न करने की पूर्ण शिक्षा दे दें। यदि न करने पर भी शिष्य न माने तो उससे सम्भाषणादि न करे।

यदि शिष्यः पतेन्मार्गात्तं प्रयत्नेन वारयेत्।
श्रियः पत्युः पदाम्भोजे गुरुर्याचेत तद्धितम्॥
तेन सम्भाषणादीनि वर्जयेदनिवर्तने।

इत्यादि शास्त्रीय वाक्य इसमें प्रमाण है।

गुरु के आज्ञानुसार चलने पर शिष्य को सब पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है, यह प्रसङ्ग महाभारत के आद्य पर्व गुरुशिष्योपाख्यान में विस्तार-पूर्वक श्रीव्यास भगवान् ने वर्णन किया है। अतः सिद्ध होता है कि गुरु के आज्ञानुसार चलने से ही शिष्य अनायास चतुर्विध पुरुषार्थों को प्राप्त कर लेता है। सुतरां सबको श्रीगुरुदेव की आज्ञा में अनुवृत्त होना चाहिये।

किन्तु श्रद्धा पूर्वक किये जाने पर ही सब उपाय फलशाली होते हैं। अतः श्रद्धापूर्वक पूर्वोक्त कर्म, ज्ञान, भक्ति, भगवत्शरणागति,

गुर्वाज्ञानुवृत्ति, रूप साधनों का अनुष्ठान करना चाहिये।

इति श्री पं० लाड़िलीशरण विरचिता साधनतत्वस्य
सुबोधिनी टीका समाप्ता।

प्रश्न - भक्ति का क्या स्वरूप है ? और वह कैसे होती है ? तथा उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - हे वत्स ! श्रुति में भक्ति का स्वरूप इस प्रकार बताया है। यथा-''**भक्तिरस्य भजनम्**'' अर्थात् निष्काम भाव से भगवान् के सेवन करने का नाम ही भक्ति है। इसी का विशद अर्थ श्रीनारदपञ्चरात्र में श्रीनारदजी ने इस प्रकार किया है। यथा-''**सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।**'' अर्थात् समस्त सांसारिक वासनाओं से रहित, भगवान् में लगाई हुई, शुद्ध समस्त इन्द्रियों से भगवान् के सेवन करने का नाम ही भक्ति है।

भक्ति होने का उपाय श्रीआद्याचार्यजी ने इस प्रकार वर्णन किया है।

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिका परा।।६।।

अन्वय- (हि) अनन्याधिपतेः, महात्मनः, अस्य दैन्यादियुजि, कृपा प्रजायते। यया, प्रेमविशेषलक्षणा भक्तिः (भवति) सा (भक्ति) उत्तमाः अपरा, च, साधन रूपिका (भवति)।

समास-नास्ति-अन्यः-अधिपतिर्यस्य स (अनन्याधिपतिः) तस्य। महान्-आत्मा यस्य स महात्मा तस्य। प्रेम-विशेष-एव लक्षणं स्वरूपं यस्या या (प्रेमविशेषलक्षणा) साधन-रूपा-एव (साधनरूपिका)।

सुबोधिनी टीका

पूर्वोक्त षड्विध शरणागति युक्त किंवा गुर्वाज्ञानुवृत्त दीनजन पर ही स्वाभाविक कारुण्य, वात्सल्य, क्षमा, सौहार्दादि दिव्य कल्याण गुणों

के असीम, अगाध, समुद्र स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र की कृपा होती है।

पूर्वोक्त कर्म ज्ञानादि साधनों में से प्रपत्ति का ही ''दैन्यादियुजि'' पद से उल्लेख करने में श्रीआद्याचार्य का अभिप्राय यह है कि, अन्यान्य साधनों की अपेक्षा शरणागति ही एकमात्र भगवत्कृपा का मुख्य कारण है। अर्थात् एकमात्र शरणागत भक्त के ऊपर ही भगवान् की पूर्ण कृपा होती है।

सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से यही कहा है। यथा--

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यति शाश्वत।।

अर्थात् हे भारत ! सर्व प्रकार के एकमात्र सर्व धी नियामक भगवान् की ही शरण जाओ। उन्हीं के प्रसाद (कृपा) से शाश्वत परम शान्ति (भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष) स्थान को प्राप्त होंगे। सर्व धी नियामक श्रीकृष्णचन्द्र ही हैं। यह पूर्व में विस्तृत रूप से बतलाया गया है।

प्रश्न - श्रीकृष्ण सत्य प्रतिज्ञ हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर - हे वत्स ! इसमें महाभारत के वन पर्व में द्रौपदी के प्रति स्वयं भगवान् का कथन ही प्रमाण है। यथा--

पतेद्द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी शकली भवेत्।
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे ! न मे मोघं वचो भवेत्।।

अर्थात् हे कृष्णे ! द्रौपदी ! चाहे आकाश गिर पड़े, हिमालय टूट जाय, पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जाय, समुद्र सूख जाय, किन्तु मेरा वाक्य झूँठ नहीं होवेगा। अतः सत्य प्रतिज्ञ श्रीकृष्ण के वाक्यों में दृढ विश्वास कर, उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये एकमात्र उन्हीं की शरण जाना चाहिये।

प्रश्न - सत्य प्रतिज्ञ होने पर भी यदि शरणागत के रक्षा करने में असमर्थ हो तो उसके शरण जाने से क्या फायदा ?

उत्तर - हे वत्स ! इसी सन्देह को दूर करने के लिये श्रीआद्याचार्यजी ने ''**अनन्याधिपतेः**'' यह विशेषण दिया है। जिनका दूसरा अधिपति (स्वामी) नहीं है। अर्थात् आप ही सबके ईश्वर हैं। अतः आप स्वतन्त्र

तथा ब्रह्माण्ड के परम कारण होने से सर्व समर्थ हैं। सुतरां शरणागतों की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसमें "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्, पतिं पतीनां परमं परस्तात्, विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। तथा--

मत्तः परतरं नान्यकिञ्चिदस्ति धनञ्जय।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।

इत्यादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं। अर्थात् आप ईश्वरों के भी परम ईश्वर, देवताओं के भी परम देवता, पालन करने वालों के भी पालन करने वाले, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ, पूज्य लोकों के स्वामी, आपको हम जानते हैं। वह कौन हैं, ऐसा शङ्का का समाधान श्रीकृष्ण का वाक्य है। अर्थात् मैं क्षर (माया) से रहित हूँ। और अक्षर (जीव) से भी श्रेष्ठ हूँ। अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। अर्जुन ने भी आप से यही कहा था कि--

"**नत्वत्समोस्त्यभ्यधिकं कुतोऽन्ये लोकत्रयेऽप्यप्रतिम-प्रभावः**" आपके समान ही कोई नहीं, तब आपसे श्रेष्ठ कहां से होगा। अतः आपका ही प्रभाव तीनों लोकों में निरुपमेय है।

इसीलिये श्रीआद्याचार्यजी ने भी "**महात्मनः**" यह विशेषण दिया है और इस विशेषण से "आप सबके इङ्गित को जानते हैं" यह बताया है। अतएव उन सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के शरणागत होकर उनसे किसी प्रकार का कपट न करे। क्योंकि आपका स्वरूप सर्वत्र व्यापक है। अतः आपको सब प्रत्यक्ष है कि, कौन जीव निष्कपट भाव से मेरी शरण, और कौन जीव शरणागत का ढोंग बनाकर मुझे और विश्व को ठग रहा है।

अथवा "महाँश्चासावात्मा च" इस कर्म धारय समास से आत्मा को ही महान् बताया है। अर्थात् आप क्षमावात्सल्य, सौशील्य, औदार्य आदि दिव्य गुणों के आश्रय हैं।

इससे यह बताया गया है कि, आप अपनी असीम कृपा और सुहृदतादि गुणों के परवश होकर भक्ति और शरणागति के अंगों के अनुष्ठान करने में असमर्थ, व्याजमात्र से भी भजन करने वाले जनों के

गुण और दोषों को न देखकर उनको भक्ति और प्रपत्ति का फल प्रदान कर देते हैं। इसमें विभीषण के शरण आने पर अपने मन्त्रियों के द्वारा अनेक प्रकार के सन्देहों को सुन कर भी सत्य प्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र ने यही कहा था कि, विभीषण चाहे किसी भाव से आया हो, किन्तु जब मुख से कह रहा है कि मैं शरण आया हूँ। अतः मैं इसको अवश्य अपनी शरण में रक्खूंगा। यह प्रसंग अनवरत मनन करना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि ''संयोग पृथक्त्व'' न्याय से श्रीभगवच्छरणागति ही भगवत्प्राप्ति का स्वतन्त्र साधन है, और भगवान् की भक्ति आदि की उत्पत्ति का भी साधन है। और हे वत्स ! वह पूर्वोक्त भक्ति साधन रूपा और फल रूपा भेद से प्रथमतः दो प्रकार की है।

प्रश्न - साधन रूपा भक्ति किसको कहते हैं।

उत्तर - अनेक जन्मों में अनुष्ठान किये हुये पुण्यों से पवित्र अन्तःकरण में सत्संग द्वारा प्रकट होने वाली भक्ति को साधन रूपा भक्ति कहते हैं। इसमें--

जन्मान्तर सहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः।
नराणां क्षीण पापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।।

इत्यादि शास्त्रीय वाक्य प्रमाण हैं।

अथवा प्रेम लक्षणाभक्ति जिससे प्रकट हो, उसको साधनरूपा कहते हैं। जैसे कि पञ्चरात्र में कहा है--

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत्।।

अर्थात् हे सुरर्षे, नारद ! भगवान् को उद्देश्य कर शास्त्रों में जिन-जिन क्रियाओं के करने का विधान है, उसी का नाम भक्ति है और उससे पराभक्ति प्रकट होती है।

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनन्।।

इत्यादि शास्त्रीय वाक्यों के अनुसार भगवद्गुण श्रवण १, भगवद् गुण कीर्त्तन २, भगत्स्मरण ३, भगवत्पाद सेवन ४, भगवदर्चन ५,

भगवद्वन्दन ६, भगवान् के साथ दास भाव रखना ७, भगवान् के साथ सखा भाव ८, भगवान् को आत्म-निवदेन ६, इन भेदों से साधनरूपा भक्ति ६ प्रकार की है। इनमें किसी एक भक्ति के अनुष्ठान से प्रसन्न भगवत्कृपा से पराभक्ति होती है।

प्रश्न - पराभक्ति किसको कहते हैं ?

उत्तर - कर्म, योगादि पूर्व कथित साधनों का अनुष्ठान करण रूप भगवदाज्ञा पालन के ब्याज मात्र से प्रसन्न भगवान् के द्वारा दिये हुए "**त्वम्**" पदार्थ (जीव) विषयक आत्मज्ञान के अनन्तर होने वाली भक्ति को पराभक्ति कहते हैं। उसी का नाम प्रेम लक्षणा "पराभक्ति" ध्रुवास्मृति है।

अथवा जैसे इन्द्रियों की वृत्तियाँ अनवरत रूपादि विषय के ग्रहण करने में प्रस्तुत रहती हैं, वैसे ही अनवच्छिन्न गङ्गा प्रवाहवत् स्वाभाविक भगवत्स्वरूप गुणादि को विषय करने वाली यावददात्मवृत्ति मुमुक्षु की मनोवृत्ति का नाम पराभक्ति है, वह पराभक्ति सत्सङ्ग से शुद्धान्तःकरणशील मुमुक्षु को ही होती हैं। और अन्तःकरण की शुद्धि शुद्ध अहार से होती है। जैसे कि श्रुति ने कहा है--"**आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः**" अतएव अन्तःकरण की शुद्धि के लिये लघुपाक, सात्त्विक, अल्प, शुद्ध, अहार करना ही मुमुक्षु को उचित है।

प्रश्न - ज्ञान के अनन्तर भक्ति होती है, इसमें क्या प्रमाण है ? मैंने तो सुना है कि "**भक्तिर्ज्ञानाय कल्प्यते**" अर्थात् ज्ञान के लिये भक्ति की कल्पना की गई है।

उत्तर - हे वत्स ! इसमें श्रीमद्भगवद्गीता के श्रीमुख का वचन ही प्रमाण है। यथा--

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
निर्वैरः सर्वभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।

अर्थात् जिनको "**त्वम्**" पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान हो चुका है। अतः मैं ब्रह्मात्मक हूँ, सुतरां ब्रह्मीभूत हूँ, इसीलिये जिनकी आत्मा (मन) प्रसन्न है, अतएव किसी भी नष्ट वस्तु का शोक और अप्राप्त वस्तु

की अभिलाषा नहीं करता है, अतएव सब प्राणियों में निर्वैर (विरोध शून्य) है, ऐसे व्यक्ति को पराभक्ति प्राप्ति होती है। अतः सिद्ध है कि ''**त्वम्**'' विषयक यथार्थ ज्ञान के अनन्तर ही पराभक्ति होती है।

और ''**भक्तिर्ज्ञानाय कल्प्यते**'' का तात्पर्य यह है कि भगवत्साक्षात्कारानुभव रूप ज्ञान के लिये पराभक्ति की आवश्यकता है, क्योंकि पराभक्ति के बिना भगवान् के स्वरूप गुणादि का साक्षात्कार नहीं होता है। और साक्षात्कार न होने से भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष भी नहीं हो सकता, अतः ''**तत्**'' पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान के लिये भक्ति (पराभक्ति) की कल्पना उपयोगिता है। इसमें भी--

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।

इत्यादि भगवद्गीता के भगवद्वाक्य प्रमाण हैं।

अर्थात् मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, कितने परिमाण में मेरे गुणादि हैं, ऐसे में मुझको पराभक्ति से ही जान सकता है। अर्थात् मेरे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्यादि कल्याण दिव्य गुण स्वाभाविक तथा अनन्त हैं। और मेरा स्वरूप सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, सर्वात्मभूत, सर्वव्यापक, सर्व दोषों से रहित और चेतनाचेतन स्वरूप विश्व से स्वाभाविक भिन्नाभिन्न है, इसका ज्ञान पराभक्ति से ही होता है। संशय और विपरीत ज्ञान से रहित मेरे ऐसे स्वरूप और गुणादिक के यथार्थ ज्ञान को पाकर मुमुक्षु मेरे में प्रवेश करता है।

प्रश्न - यहाँ पर प्रवेश पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर - हे वत्स ! चेतनाचेतन स्वरूप विश्व भगवदात्म है, अतः भगवदभिन्न है। ऐसे ही अनुभव पूर्वक विश्वरूप शक्तिमान् भगवान् में उनकी चिच्छक्ति रूप अपने वास्तव रूप से अवस्थान करने का नाम ही प्रवेश है। इसमें गीता के एकादशाध्याय को प्रमाण जानना। क्योंकि भगवान् ने अपने दिव्य स्वरूप में सबकी स्थिति दिखलाई है, और अर्जुन ने भी सभी चेतनाचेतन शक्तियों को उनके स्वरूप में अवलोकन किया है।

इसका तात्पर्य यह है कि, जैसे सब अधिकारियों की अधिकार

रूप शक्तियाँ स्थायी भाव से भगवान् में ही सदा स्थितिशील है। सृष्टि के समय कौन किस अधिकार के उपयुक्त है, यह विचार कर भगवान् ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि पदों के उपयुक्त जीवों को तत्तत्पदों के अनुकूल सृष्टि, प्रलयादि का भार देकर तत्तत्पदों पर नियुक्त करते हैं। और महाप्रलय के समय उनसे उन-उन शक्तियों को छीन लेते हैं। किन्तु उन-उन शक्तियों का स्थायी भाव से सर्वदा रहना भगवान् में ही है। वैसे ही सृष्टि के समय जीवों के अनादि कर्मानुसार संसार में भेजकर मुक्ति के समय उनको संसार से (अचित् शक्ति से) विमुक्त कर देते हैं। अतः वह अपने स्वाभाविक स्वरूप-चित् शक्ति रूप से प्रकट होकर एकमात्र स्वतन्त्र सत्त्व (शक्तिमान्) ब्रह्म में निवास करता है। इसमें--

ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः।
एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा।।
जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते स्वतेजसा।

इत्यादि शास्त्रीय वाक्य प्रमाण हैं।

यह विश्व चेतनाचेतन शक्ति स्वरूप है, इसमें तो किसी प्रकार का विवाद ही नहीं है। क्योंकि इसका निर्णय तो भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से गीता में कर दिया है। यथा--

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत्।।

अतः शक्ति का शक्तिमान् में स्वरूप से प्रकट होकर रहने का नाम ही प्रवेश है। इसी को (भगवद्भावापत्ति) सायुज्यादि शब्दों से भी कहते हैं।

प्रश्न - प्रवेश होने पर ब्रह्म के साथ एकता होती है। अतः प्रवेश का नाम ब्रह्मैक्य क्यों नहीं कहते हो। और इसी प्रकार सायुज्य का नाम भी ब्रह्म के साथ एकता ही होनी चाहिये।

उत्तर - नहीं वत्स ! प्रवेश और सायुज्य का नाम ब्रह्मैक्य नहीं है। क्योंकि **''जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं तन्महिमानमिति वीतः शोकः''** इत्यादि श्रुतियों में मुक्तों का भी स्वरूपतः भेद सुना जाता है। अर्थात् जब वीत शोक (अर्थात् शोक कारण स्वरूप माया का आवरण, जिनके धर्म

भूतज्ञान से हट गया है, ऐसे मुक्त जीव) मुक्तों से जो सेवित **''ईशम्''** हरि को **''अन्यम्''** अपने से स्वरूपतः भिन्न देखता है, वह उस समय बन्धनों से मुक्त होकर भगवान् की महिमा सादृश्य को प्राप्त होता है।

इस प्रकार मुक्त पुरुष का भी स्वरूपतः भेद श्रुतियों में सुना जाता है। अतः जीव और ईश्वर का मुक्तावस्था में भी स्वरूपतः भेद ही है। ब्रह्म के साथ स्वरूपैक्य नहीं है।

अतएव मोक्ष होने पर जीव को ब्रह्म की समानता ही प्राप्त होती है, जैसा कि **''निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति''** इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है कि, माया के समस्त बन्धन रूप अञ्जन से रहित होकर परंब्रह्म की समानता को प्राप्त होता है।

यदि सायुज्यादि शब्दों का अर्थ ब्रह्म के स्वरूप के साथ ऐक्य हो जाना मानलो तो **''एतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्ष्टितां समान लोकतामाप्नोति''** इत्यादि श्रुतियों का विरोध होगा। क्योंकि एक साथ अनेक देवताओं के साथ स्वरूपैक्य तो हो ही नहीं सकता हैं। और क्रम-क्रम से भी अनेक देवताओं से स्वरूपैक्य नहीं हो सकता। क्योंकि जब एक देवता के साथ मिलकर, उसके स्वरूपैक्य को प्राप्त होगया, तब दूसरे के साथ कैसे ऐक्य होगा। क्योंकि एक होजाने पर अलग होना असम्भव है। अतः **''सह युज्यतइति सयुक् तस्य भावः सायुज्यम्''** इस प्रकार निष्पन्न सायुज्य शब्द का अर्थ ही भगवत्साम्य है, स्वरूपैक्य नहीं।

इसी प्रकार **''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति''** इस श्रुति का अर्थ भी यह है कि, जैसे कीट भृङ्ग के स्वरूप का ध्यान करते-करते भृङ्ग के समान होजाता है। वैसे ही जीव ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्म सदृश होजाता है। अथवा चिदचित् ब्रह्मात्मक है, अतः ब्रह्म से अभिन्न है। सुतरां मुक्त जीव के बृहद्गुणों का ब्रह्म में आविर्भाव होने से ब्रह्म (बृहत् गुणशाली) ही होता है। किन्तु ब्रह्म के साथ ऐक्य नहीं होता है। अतः मुक्तावस्था में भी जीव का ब्रह्म से स्वरूपतः भेद है, यही सिद्ध होता है।

यह पूर्व में बताया गया है कि ''सत्संग से शुद्धान्तःकरण में पराभक्ति प्रकट होती है।'' अतः जब तक पूर्ण रूप से मनरूप भ्रमर

भगवान् के पादपद्म के मधु पान करने में लम्पट न हो, तब तक पराभक्ति चाहने वाले मुमुक्षुओं को नित्यकर्म के अनुष्ठान के समान ही सत्पुरुषों का सङ्ग करना चाहिये।

प्रश्न - सत्पुरुषों का लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - हे वत्स ! अस्मद् सम्प्रदायाचार्य, श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने सत्पुरुषों का लक्षण ऐसे किया है। यथा--

''भगवद्दिदृक्षातृणीकृत सर्व पुरुषार्थकत्वे सति भगवदाज्ञा-विरुद्धाचार शून्यत्वम्।'' अथवा **''तन्नियोग कैङ्कर्य्य पुरुषार्थ परत्वे सति, अन्य पुरुषार्थेच्छाकालुष्याभावत्वं सतां लक्षणम्।''**

अर्थात् भगवान् के दर्शन करने की इच्छा से सब पुरुषार्थों को तृण के समान समझते हैं, और कभी भी भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण न करने वालों का नाम सत् है। अथवा एकमात्र भगवदाज्ञा पालन रूप सेवा को ही पुरुषार्थ जानकर उसी में तत्पर होते हुए अन्य किसी अभिलाषा की प्राप्ति रूप कालिमा से शून्य जन को सत् कहते हैं। जैसा कि पुराणों में सद् व्यक्तियों की उक्तियां हैं। यथा पद्मपुराण--

वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदं ते वपुर्नाथ गोपाल बालं सदा मे मनस्याविरास्तात्किमन्यैः ।।

पञ्चरात्र--

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम।।
मोक्षं सालोक्य सामीप्यं प्रार्थये न धराधर।
इच्छामीह महाभाग ! कारुण्यं तव सुव्रत।।

अर्थात् हे देव वरदाता ! आप से मैं मोक्ष किंवा अन्य धर्मार्थ काम की चाहना नहीं करता, किन्तु मैं यही मांगता हूं कि मेरे मन में अनवरत इस गोपाल बालविग्रह का चिन्तन बना रहे।

हे धराधर ! मेरी धर्मार्थ, काम, मोक्ष में इच्छा नहीं है। मैं तो एक यही चाहता हूं कि आपके चरण कमल के आश्रय में रहकर ही मेरा जीवन व्यतीत हो। सालोक्य, सारूप्यादि मोक्षों को मैं नहीं चाहता हूँ।

मैं तो केवल आपकी कृपा चाहता हूँ। ऐसे अनेक उदाहरण पुराणों में भरे पड़े हैं।

ऐसे एकान्ती भक्तों के दर्शन करने मात्र से ही सभी कल्मष नष्ट हो जाते हैं। फिर यदि बहुकाल तक उनका सत्संग किया जाय, तब तो कहना ही क्या है। किन्तु ऐसे सज्जनों का मिलना ही बहुत कठिन है। जैसा कि शास्त्रों में कहा है, यथा--

यस्यानुभवपर्य्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रतिष्ठिता।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।।
दुर्लभा भगवद्योगभाविनो भुवि मानवाः।
तद्दर्शनात्तदालापात्सुलभं शाश्वतं पदम्।।

अर्थात् जिनकी अनुभव पर्यन्त बुद्धि परंब्रह्म में स्थित है, उनके दर्शनमात्र से ही मनुष्य अपने सम्पूर्ण पापों से छूट जाता है। भगवान् के दिव्य सद्गुणों की भावना करने वाले भक्त संसार में दुर्लभ हैं। उनके दर्शन से तथा उनके साथ आलाप करने से परमपद सुलभ है।

ऐसे भक्तों की सेवा निष्कपट भाव से श्रद्धापूर्वक करने की आज्ञा शास्त्रों ने दी है। यथा--

सम्भाषो दर्शनं स्पर्शः कीर्तनं स्मरणं तथा।
पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुम।
सेव्याः श्रेयोऽर्थिभिः सन्तः पुण्यतीर्थफलोपमाः।
क्षणोपासनयोगोऽपि न तेषां निष्फलोभवेत्।।
सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगमम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत्।।

अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण युक्त सज्जनों का सम्भाषण, दर्शन, स्पर्श, कीर्तन, स्मरण, यह सब मनुष्य को पवित्र करने वाला है, ऐसा हमने वेदों में सुना है। कल्याण चाहने वाले जनों को सज्जनों की सेवा करनी चाहिये, क्योंकि वह पवित्र तीर्थों के फल के समान हैं। उनकी क्षणमात्र की सेवा भी निष्फल नहीं हो सकती है। मुमुक्षु को सद्व्यक्ति का ही सङ्ग करना चाहिये, उन्हीं के साथ यावतीय व्यवहार करे, असत् व्यक्ति के साथ किसी प्रकार

का व्यवहार न रखें।

इतना ही नहीं किन्तु ऐसे सज्जनों की सेवा भगवान् से भी बढ कर करनी चाहिये, यह भगवान् ने स्वयं कहा है। यथा--

मम मद्भक्तभक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका भवेत्।
तस्मान्मद्भक्तभक्तांश्च पूजनीया विशेषतः।।

अर्थात् मेरी सेवा करने की अपेक्षा मेरे भक्त की सेवा करने वाले के ऊपर मेरी प्रीति अधिक रहती है, अतः मेरे भक्तों की सेवा करने वाले भक्तों को विशेष रूप से सम्मान करना चाहिये। अतएव--

तस्माद् विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत्।
प्रसादसुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशयः।।

विष्णु की कृपा चाहने वाले को वैष्णवों को सन्तुष्ट रखना चाहिये, वैष्णवों के सन्तुष्ट होने से ही विष्णु सन्तुष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह न करना चाहिये। किञ्च--

सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युतसेविनाम्।
न संशयस्तु तद्भक्तपरिचर्य्यारतात्मनाम्।।
केवलं भगवत्पादसेवया निर्मलंमनः।
न जायते यथा सिद्धिर्तद्भक्त चरणार्चनात्।।

अर्थात् अच्युत भगवान् की सेवा करने वाले को ''मुझे सिद्धि होगी या नहीं'' ऐसा सन्देह हो सकता है, किन्तु पूर्वोक्त लक्षण युक्त भगवद्भक्तों की सेवा करने वाले को किसी भी सिद्धि का सन्देह नहीं होता, अर्थात् उसको अनायास ही सब सिद्धियां उपस्थित होती हैं। भगवद्भक्तों के चरणार्चन से मन जैसा शुद्ध होता है, वैसा भगवान् के चरणार्चन से भी नहीं होता है, अतः पूर्वोक्त पराभक्ति को चाहने वाले मुमुक्षु को पूर्वोक्त लक्षणयुक्त सत्पुरुषों की सेवा और उनके साथ सत्संग नित्य कर्मवत् अवश्य करना चाहिये।

यदि पूर्व लक्षणयुक्त सद्व्यक्ति का समागम न हो सके, तो प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि अपने-अपने ग्राम में ''श्रीनिम्बार्क सत्संग मण्डल'' स्थापन कर श्रीआद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्यजी का चित्र स्थापन कर उन्हीं

का नाम कीर्तन करना चाहिये, उससे भी मन का अन्धकार दूर होकर हृदयाकाश में श्रीकृष्ण पद नख अर्क की किरणें प्रकाशित होगी। और इसके साथ-साथ--

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मनिग्रहः।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकारमेवच ।
जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।।
असक्तिरनभिष्वङ्ग ! पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचितत्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।
विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।

जाति, गुण, धनादि अभिमान न करना, पाखण्ड न करना, किसी की हिंसा न करना, सरलता रखना, क्षमा रखना, आचार्य की उपासना करना, पवित्र रहना, स्थिर रहना, अपने मन को वश में रखना, इन्द्रियों के विषय शब्दादि से वैराग्य रखना, किसी प्रकार का अहंकार न करना, जन्म-मरण व बुढापा और व्याधियों के दुःखरूपी दोष को बारम्बार विचारपूर्वक देखना, पुत्र, स्त्री, गृहधनादि में आसक्त न होना, अच्छे और बुरे की प्राप्ति होने पर भी निरन्तर समभाव से रहना, एकान्त देश का सेवन करना और जनसमुदाय में प्रीति न करना इत्यादि गुणों का भी अवश्य सम्पादन करना चाहिये, क्योंकि यह प्रत्येक साधन के उपयोगी हैं।

इति श्री पं० लाड़िलीशरण ब्रह्मचारी विरचिता मुक्ति-भक्ति-तत्त्वस्य सुबोधिनी टीका समाप्ता।

पूर्व में कथित अर्थ को अल्पबुद्धिशाली भगवज्जनों को स्मरण कराते हुये उनके उपकारार्थ भगवान् श्रीआद्याचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य वैष्णवों के अवश्य जानने योग्य (अर्थ पञ्चक) का भी निरूपण करते हैं।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः।।१०।।

अन्वय - उपास्यरूपम्, तदुपासकस्य, च, (रूपम्) कृपाफलम्, ततः, परम्, भक्ति रसः, अथ, ऐतदाप्तेर्विरोधिनो रूपम्, इमे, पञ्च, अर्थाः, अपि साधुभिर्ज्ञेयाः। इत्यर्थः।

समास -उपासितुं योग्य उपास्यः, तस्य रूपमिति (उपास्य-रूपम्) उपास्त इति उपासकस्तस्योपासक इति तदुपासकस्तस्य। कृपायाः फलम् (कृपाफलम्) भक्त्या रस्यते अनुभूयत इति भक्ति रसः, भगवद्भावापत्ति रूप मोक्षः, अथवा भक्ते रसः, आस्वादो भक्ति रसः (अर्थात्-पराभक्ति) एतस्य परंब्रह्मण आप्तिः प्राप्तिः तस्या इति (ऐतदाप्तेः) ज्ञातुं योग्या (ज्ञेयाः)।

सुबोधिनी टीका

पूर्वोक्त पाँच वस्तुएं मुमुक्षुओं को अवश्य जाननी चाहिये। अर्थात् हम जिनकी उपासना करते हैं, उनका स्वरूप क्या है, इसका प्रतिपादन चतुर्थ, पञ्चम श्लोक की व्याख्या में बताया गया है, उसी के अनुसार जानना।

१. अर्थात् स्वभावतः सर्व प्राकृत गुण तथा दोषों से रहित स्वाभाविक यावदात्मवृत्ति अचिन्त्यानन्त दिव्य कल्याण गुणों की राशि, सर्व शरण्य, जगत् के सृष्टि, स्थिति प्रलय कर्ता, मोक्ष दाता, शास्त्र के योनि, मुक्त पुरुषों के प्राप्य, सबके उपास्य, सबके शासनकर्ता, विश्व के अन्तरात्मा, निरस्त साम्यातिशय ऐश्वर्यशाली, योगियों के ध्येय, जगदभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वरूप, श्रीराधिका, रुक्मिणी, सत्यभामा विशिष्ट परं ब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप का प्रतिपादन चौथे और पांचवे श्लोक की सुबोधिनी में प्रतिपादन किया है।

२. उपासक का स्वरूप क्या है, इसका निरूपण प्रथम, द्वितीय श्लोक में किया गया है।

अर्थात् उपासक (जीव) देहेन्द्रिय, मन, प्राणादि से विभिन्न, प्रकाश स्वरूप, धर्मभूत ज्ञान का आश्रय, भगवदधीन स्थिति प्रवृत्तिशाली, अणुपरिमाण है। अतः प्रति देहभिन्न भगवद्दास है। इसका प्रतिपादन पहिले और दूसरे श्लोक की सुबोधिनी में विस्तृत रूप से किया है। उसी के

अनुसार जानना।

३. कृपा ही है एक मात्र फल जिसका ऐसे साधनों का निरूपण अष्टम श्लोक से किया गया है, उसी के अनुसार जानना। अर्थात् कर्म, ज्ञान, भक्ति भगवच्छरणागति गुर्वाज्ञानुवृत्तिरूप साधनों के अनुष्ठान से भगवत्कृपा होती है। यह सब साधन भगवत्कृपा के प्रकट करने में ब्याज मात्र से सहकारी हैं। इत्यादि का निरूपण ८ वें श्लोक की सुबोधिनी में किया गया है।

४. भक्ति के द्वारा भगवत्साक्षात्कार उसके द्वितीय क्षण भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष, इसका निरूपण नवम श्लोक में किया गया है। अथवा पराभक्ति रूप आस्वादन विशेष अर्थात् पराभक्ति का स्वरूप ९ वें श्लोक में बताया गया है। एवं मुक्ति का क्रम भी उक्त दो श्लोक में बताया गया है। अर्थात् प्रथम जन्मकाल में भगवान् की कृपादृष्टि पड़ना, अतः जन्मकाल से ही सात्त्विक भाव का आना, पश्चात् निष्काम कर्म का अनुष्ठान, उससे अन्तःकरण शुद्धि पश्चात् सत्संग, पश्चात् ऐहिकामुष्मिक विषयों से पूर्ण वैराग्य, ततः नानाविध साधनों से **(त्वम्)** पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान, तब भगवत् कृपा पश्चात् पराभक्ति रूप परमात्म विषयक परोक्षानुभव रूप ज्ञान पश्चान्मोक्ष।

अथवा प्रथम गुरु शरणागति, पश्चात् साधन रूप भक्ति का अनुष्ठान, पश्चात् भगवत्कृपा उससे पराभक्ति और उससे भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष।

यह दोनों मार्ग स्वतन्त्ररूप से भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष के उपयोगी हैं। किन्तु इनमें दूसरा मार्ग बहुत ही सरल है, इस मार्ग में किसी प्रकार का भय नहीं है। अर्थात् अधःपतन की सम्भावना नहीं है। और पूर्वमार्ग में ''**पतत्यधोऽनादृत युष्मदंघ्रयः**'' इत्यादि वाक्यों के अनुसार यदि भगवच्छरणागति को स्वीकार न करेगा, तो अवश्य ही वह अपने साधनों द्वारा प्राप्त पद से नीचे गिर जायगा। अतः ''**येनेष्टं तेन गम्यताम्**'' के अनुसार जो अच्छा लगे, उसी मार्ग को विचारशील ग्रहण करें।

प्रश्न - हे कृपामय। कृपा कर भगवत्प्राप्ति के विरोधियों के

स्वरूप को शीघ्र बताइये, क्योंकि मुझे उनसे बहुत भय लगता है।

उत्तर - हे वत्स ! सामान्य और विशेष रूप से भगवत्प्राप्ति के विरोधी दो प्रकार के हैं, इनमें प्रथम मैं तुमको विशेष विरोधियों के स्वरूप को ही बताता हूँ। क्योंकि यही विरोधीगण अपने स्वरूप और परमात्म स्वरूप को अन्यथा रूप से दृढ करने के कारण हैं। अर्थात् जीवात्म स्वरूप को भी विपरीत भाव से बता देते हैं, और परमात्मस्वरूप को भी विपरीत भाव से बताते हैं। यही नहीं किन्तु इस विपरीत भाव को ही दृढ करते हैं।

इन विरोधियों में भी जो अपने स्वरूप ज्ञान के विरोधी हैं, उन्हीं को प्रथम दिखाते हैं, क्योंकि हम जब तक अपने स्वरूप को न समझेंगे, तब तक अपना कर्तव्य भी निर्णय नहीं कर सकेंगे। और बिना जाने किसी भी कार्य का अनुष्ठान करना आपत्ति का स्थान है।

यथा - देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि में आत्मा (जीव) का अभिमान करना १, भगवान् और श्रीगुरुदेव के बिना दूसरे की आधीनता स्वीकार करना २, हम भगवान् के दास हैं, इसमें सन्देह अथवा इसको असम्भव मानना ३, श्रुति , स्मृति रूप भगवदाज्ञा की उपेक्षा कर स्वेच्छाचार करना ४, श्री भगवान् पुरुषोत्तम श्रीसर्वेश्वर के बिना दूसरे देवता की पूजा, स्तुति, नमस्कारादि करना ५, जिन शास्त्रों में भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा अथवा श्रीगुरुदेव की महिमा का वर्णन नहीं हैं, ऐसे शास्त्रों को कर्तव्य समझ कर पढना ६, अपने को प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र मान लेना ७, जाति, गुण, विद्या, धनादि का अहङ्कार रखना ८, पुत्र, स्त्री, धनादि में ममता रखना ९, इत्यादि स्वरूप ज्ञान के विरोधी हैं। इनके रहने से अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, और आत्मज्ञान शून्य मनुष्य को शास्त्रों ने आत्मघाती कहा है। यथा--

असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।
योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।।

अर्थात् देव दुर्लभ तथा भगवत्प्राप्ति के योग्य मनुष्य देह को पाकर, स्व-पर स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही इस लोक से चले जाते हैं, वे आत्महन्ता हैं, अतः बारम्बार जन्ममरण रूप संसार चक्र में पड़ पशु, पक्षी आदि योनियों में जन्मते हैं, मरते हैं।

जो दूसरे प्रकार से शास्त्रों में बताये हुए, आत्म-स्वरूप को दूसरे प्रकार से मान लेते हैं। अर्थात् सर्वदा, सर्वत्र भगवदधीन होने पर भी, जो अपने को स्वतन्त्र मान लेते हैं। स्वरूपतः ब्रह्म से भिन्न होने पर भी ''**अहं ब्रह्मास्मि**'' कह कर अपने को ब्रह्म मान लेते हैं, वह आत्मापहारी होने से चोर ही हैं। अर्थात् अपने स्वरूप को आप ही चुराने वाला है, अतः सभी पापों का करने वाला है। इसलिये मुमुक्षुओं को इन स्व-स्वरूप विरोधियों से सदा प्रयत्न पूर्वक बचना चाहिये।

अब परमात्म-स्वरूप के विरोधियों को बताते हैं।। अन्य देवताओं को भगवान् श्रीकृष्ण के समान मान लेना १, ब्रह्मा, शिवादि देवों को परंब्रह्म मान लेना २, श्रीभगवान् के अवतार में मनुष्य बुद्धि करना ३, अर्थात् उनको साधारण मनुष्य मान लेना, श्रीभगवान् की अर्चा मूर्तियों मे तथा श्रीशालिग्राम मूर्ति में पाषाण, लोहा, पीतल, जड़, अचेतन इत्यादि प्राकृत बुद्धि करना ४, श्रीभगवान् की लीला और कथाओं को लौकिक तथा साधारण किस्से, कहानियों के समान मानना ५, अनन्ताचिन्त्य स्वाभाविक यावदात्मवृत्ति, दिव्य कल्याण गुणगणभूषित श्रीकृष्ण परंब्रह्म को निर्गुण अथवा मायिक गुण वाला मान लेना ६, इत्यादि भगवत् स्वरूप-ज्ञान के विरोधी हैं। अतएव मुमुक्षुओं को खूब सावधानी से प्रयत्न पूर्वक इनसे बचना चाहिये।

अब साधनों के विशेष विरोधियों को बताते हैं--

हमारे दोषों को बहुत जानकर भगवान् क्षमा न करेंगे, ऐसा समझ कर उनकी शरणागति रूप उपाय को अन्य उपायों से छोटा मानना १, शरणागत पालक श्रीकृष्ण में ''मेरे पाप बहुत हैं, अतः मेरी रक्षा न करेंगे'' ऐसा मान कर अविश्वास करना २, शरणागति को छोड़कर अन्य साधन में प्रवृत्त होना ३, भगवन्मन्त्र को छोड़कर और देवताओं के मन्त्रों

को ग्रहण करना ४, भगवन्मन्त्र, जप और पूजादि कैंकर्य्य से अन्य वस्तुकी चाहना करना ५, भगवान् की आज्ञा पालन रूप स्वधर्मानुष्ठान करने में पुरुषार्थ साधन का अभिमान करना ६, भगवत् स्वरूप श्रीगुरुदेव में मनुष्य बुद्धि करना ७ इत्यादि भगवत्प्राप्ति के साधन स्वरूप भगवच्छरणागति गुर्वाज्ञानुवृत्ति रूप साधनों के विरोधी हैं। और यही विरोधी श्रीगुरुदेव में गौरवं, विश्वास, श्रद्धादि का नाश करने वाले हैं।

भगवत् प्राप्ति के मुख्य कारण भगवत्कृपादि श्रीगुरुदेव के अनुग्रह से ही हुये हैं। अतः श्रीगुरुदेव में श्रद्धा, विश्वासादि का नाश होने से उनका भी नाश होजाता है।

यह तो पूर्व में ही बताया गया है कि भगवान् के समान अथवा उनसे भी बढकर श्रीगुरुदेव में जिनकी भक्ति है, उन्हीं को पूर्वोक्त वेदान्त बोधि तत्त्वों का ज्ञान होता है। अतः श्रीगुरुदेव में सदा ईश्वर भाव ही रखना चाहिये।

अब फल प्राप्ति के विरोधियों को बताते हैं--

मोक्ष को छोड़कर धर्म, अर्थ, काम को ही परम पुरुषार्थ समझकर उनके प्राप्ति की इच्छा करना १, भगवान् के सेवन, पूजन, जपादि के अनुष्ठान करने में स्वाभाविक भगवद्दास होने पर भी, अपने को स्वतन्त्र मान लेना २, शास्त्र विरुद्ध अपनी रुचि के अनुसार चलना ३, और उसी को धर्म मान लेना इत्यादि भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष के विरोधी हैं। अतएव-

अन्नं पानं धनं वस्त्रमायुरैश्वर्य्यमास्पदम्।
आपद्यपि न याचेत पूजकः पुरुषोत्तमम्।।

इत्यादि शास्त्रीय वाक्यों के अनुसार श्रीभगवान् का उपासक आपत्ति काल में भी भगवान् से अन्न, पान, धन, वस्त्र, आयु, ऐश्वर्य स्थानादि की याचना न करे। क्योंकि--

नाप्रसन्नोददाम्येतद्याचितोऽपि दिने दिने।
अयाचितोऽपि तत्सर्वं प्रसन्नो विदधाम्यहम्।।

इत्यादि वाक्यों से भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि यदि मैं अप्रसन्न हूँ, तो रोज-रोज यह पूर्वोक्त, वस्तुयें मांगने से भी नहीं देता हूँ और यदि प्रसन्न

हो जाऊँ तो बिना मांगे ही सब कुछ दे देता हूँ।

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कोई रोगी रोग के समय यदि कुपथ्य की चाहना करे तो भी वैद्य उसके रोग को बढाने वाले कुपथ्य को नहीं देता है, किन्तु उस रोगी की सेवा करने वालों को भी मना कर देता है कि खबरदार इसको अमुक वस्तु न देना, रोग छूट जाने पर वह स्वयं उसको उन वस्तुओं के खाने की आज्ञा दे देता है। वैसे ही संसार की नाना प्रकार की वासनारूपी रोग से आक्रान्त भगवच्छरणागत यदि अपनी पूर्व कर्मजनित वासनाओं के परवश होकर भगवान् से कुछ मांगता भी है, तो भगवान् उसको अहित करने वाली उन वस्तुओं को नहीं देते। प्रत्युत अन्य जगह से प्राप्ति के उपाय को भी रोक देते हैं, और संसार की वासना रूप रोग से निवृत्त होने पर अर्थात् (भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष) मिलने पर स्वयं ही उसको सब कुछ देते हैं। अतएव--

तत्पादभक्तिज्ञानाभ्यां फलमन्यत्कदाचन।
न याचेत्पुरुषो विष्णुं याचनान्नश्यति ध्रुवम्।।

इत्यादि शास्त्रीय वाक्यों के अनुसार भगवान् के पादपद्मों की भक्ति तथा ज्ञान को छोड़कर मुमुक्षु पुरुष को अन्य किसी वस्तु की याचना कभी न करनी, क्योंकि ऐसा करने से ही वह मुमुक्षु के पथ से नष्ट हो जायगा।

अपने शरीर को बहुत काल तक रखने की इच्छा, श्रीभगवान् तथा उनके भक्तों को अपने धन ऐश्वर्य और जाति के घमण्ड से बुद्धिपूर्वक अपमान करना असज्जनों की (अर्थात् नाना देवताओं की उपासना करने वाले शल्यजनों की) संगति करना। इत्यादि एक बार भी महान् अनिष्ट को करने वाली होने से भगवत्प्राप्ति का साक्षात्प्रतिबन्धक है और नरक का कारण है इसलिये इनसे खूब प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिये। इसमें--

प्रायशः पापकारित्वान्मृत्योरुद्विजते जनः।
कृतकृत्या प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम्।।
मयि दोषानुबन्धोऽभूत्संस्तुतावुद्यते तव।
मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव ! तस्य विनश्यतु।।

आलिंगन वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम्।
न संगः शल्य युक्तानां नाना देवोपसेविनाम्।।

इत्यादि शास्त्रीय वाक्य प्रमाण हैं। अब सामान्य विरोधियों को बताते हैं--

अपने वंश व आचार्य की स्थापित की हुई पद्धति को छोड़ देना १, अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्मों का आचरण न करना २, दूसरे के योग्य वर्णाश्रम धर्म का स्वयं आचरण करना ३, नित्य कर्म का परित्याग ४, दूसरे के साथ कृतघ्नता करना ५, मनुष्य शरीर पाकर व्यर्थ लौकिक विषय भोग में नष्ट करना ६, अपने बाह्य तथा अन्तरवीर्य का विक्रय करना ७।

प्रश्न - बाह्य वीर्य विक्रय और अन्तर्वीर्य्य विक्रय का क्या अर्थ है?

उत्तर - पर स्त्री गमनादि का नाम बाह्यवीर्य विक्रय है। अपनी विद्या तथा गुणादि के बेचने का नाम अन्तर्वीर्य्य विक्रय है।

अर्थात् वेश्या के समान अपनी आत्मा को विद्यादि से संस्कृत कर रुपया लेकर दूसरे को देना (सिखाना) इसी को अन्तर्वीर्य्य विक्रय कहते हैं। ऐसा करने वाला फिर पुरुष का जन्म नहीं पाता है। छल अथवा कपट से ब्राह्मण को जीत कर उसका अपमान करना ८, भगवान् की पूजा न करके ही खा लेना ९, अपने गुरुदेव के सामने अपनी विद्यादि का घमण्ड दिखाना १०, तथा विद्यादि के अभिमान से श्रीगुरुदेव का अनादर करना ११, (ऐसा करने वाला जलहीन देश में राक्षस होता है) बिना वैराग्य हुये तथा बिना संन्यास विधि के वैर विरोध के कारण-माता, स्त्री आदि को छोड़ना १२, चोरी से विद्या सीखना १३, गुरु द्रोह करना १४, वेद तथा ईश्वर की निन्दा करना १५, (यह करने वाले निन्दनीय हैं) दूसरे के साथ द्रोह करने का विचार करना, अथवा मन से दूसरे का अनिष्ट चाहना, झूठी वस्तु में आग्रह करना, इन तीन प्रकार के मानसिक पापों को करना १६, कठोर वचन बोलना, झूठ बोलना, चुगली करना, असंगत कथा कहना, यह चार प्रकार के वाचनिक पापों का करना १७, चोरी

करके किसी की वस्तु को ले लेना, शास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को न समझकर उन वचनों की केवल हिंसा करना पर स्त्री के साथ गमन करना, इन तीन प्रकार के शारीरिक पापों का करना १८, इत्यादि। यह सब सामान्य रूप से आत्म ज्ञान, परमात्म ज्ञान, साधन और फल के विरोधी हैं। इन्हीं को श्रीमद्भगवद्गीता में आसुरी सम्पत्ति के नाम से भगवान् ने बताया है, तथा इनको छोड़ने की आज्ञा दी है। क्योंकि आसुरी सम्पत्ति वालों को अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता है, उन लोकों की प्रवृत्ति प्रायः काम भोगने के लिये अन्याय पूर्वक धन संग्रह करना इत्यादि प्रकार की होती है । यह बताकर उन नराधमों को संसार समुद्र में बारम्बार पटकता हूँ, यह स्वयं श्रीमुख से प्रतिपादन किया है।

आसुरी सम्पत्ति का मूल कारण काम-क्रोध और लोभ हैं। क्योंकि इन्हीं के वश में होकर मनुष्य पूर्वोक्त पापों का आचरण करता है। अतः काम, क्रोध और लोभ को प्रयत्न पूर्वक छोड़ने का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि इनके छूटने पर ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है। अतः कल्याण मार्ग के अत्यन्त विरोधी होने के कारण मुमुक्षु पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक सामान्य और विशेष रूप से बताये हुये विरोधियों को छोड़ना चाहिये। यही ''**प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्**'' प्रतिकूलता का वर्जन नामक शरणागति है, पूर्वोक्त निष्काम कर्म, श्रवण, मनन, यज्ञ, दानादि रूप साधन भी अपने-अपने फल देने में समर्थ नहीं हैं, किन्तु भगवत्कृपा सापेक्ष है अतएव ''**श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा वृणुते तनुंस्वाम्**'' इत्यादि श्रुतियों का सामञ्जस्य होता है।

अर्थात् वेद सुनने पर भी बहुत जन भगवत्स्वरूप के याथार्थ्य को नहीं जानते हैं। यह भगवत्प्राप्ति वेद पढने से, बुद्धि से अथवा वेद सुनने से नहीं होती हैं, किन्तु जिसको कृपाकर भगवान् अपनाते हैं, वही उसको प्राप्त करता है। भगवान् उसको अपने शरीर के समान स्वीकार करते हैं, अपने शरीर के समान उसकी रक्षा करते हैं। इत्यादि श्रुतियों का सामञ्जस्य होता है। ऐसा न मानने से इन श्रुतियों का विषय व्याकोप हो जायेगा।

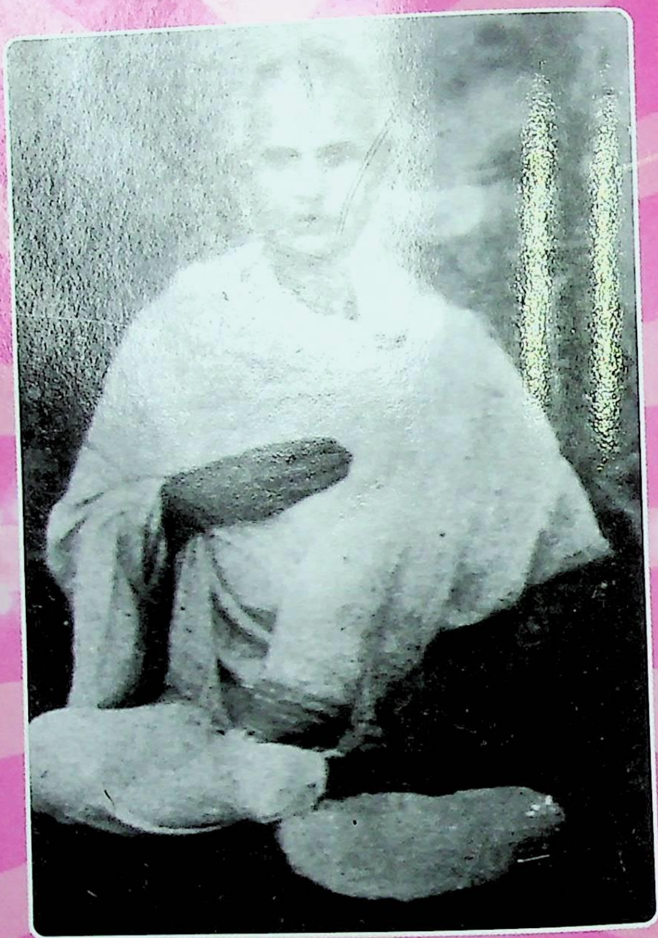
अतएव पूर्वोक्त निष्काम कर्मादि साधनों में भगवत्कृपा ही भगवत्प्राप्ति का प्रधान साधन होने से मुमुक्षुओं को उसका सम्पादन अवश्य करना चाहिये। क्योंकि उसके बिना सभी साधन व्यर्थ हैं। भगवत्कृपा कैसे होती है यह अष्टम, नवम श्लोक की सुबोधिनी पढने से ज्ञात हो जायगा।

हे वत्स ! आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने पूर्वोक्त दशश्लोकी को भगवद्दिदृक्षा लम्पट, भगवद्भावापत्तिमोक्षाभिलाषी साधक के लिये निर्माण कर, स्वसिद्धान्त एवं विचारों को अतिशय गौरवमय बना दिया, जिनके श्रवण एवं मनन करने से निश्चित ही भगवान् सर्वेश्वर के साक्षात्कार की इच्छा प्रवलित हो जाती है।

।। इति शुभम् ।।

मन्दानामुपकाराय तुष्टये तत्त्वदर्शिनाम्।
सुबोधिनी कृता व्याख्या श्रीकृष्णप्रीतये सदा।।

इति आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य विरचित 'वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी' ग्रन्थस्य श्री पं.लाड़िलीशरण ब्रह्मचारीविरचिता सुबोधिनी (अर्थपंचक निर्णय) टीका समाप्ता।



पं. लाड़िलीशरण, काव्यतीर्थ